ISSN 2231-3680

Centenary Year Special

ÂNVĪKṢIKĪ

आन्वीक्षिकी

Vol. XI **December 2015**

Chief Editor
Shriprakash Pandey

Editors
Ananda Mishra
Sachchidanand Mishra

DEPARTMENT OF PHILOSOPHY AND RELIGION

Publish under : Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu Univesity, Varanasi-5

Chief Editor : SHRIPRAKASH PANDEY

Editorial Board :
Prof. U.C. Duey
Prof. S. Vijaya Kumar
Prof. A.K. Rai
Prof. D.N. Tiwari
Prof. Kripa Shankar
Prof. D.B. Choube
Prof. R.K. Jha
Prof. Mukul Raj Mehata

Editors : **Ananda Mishra**
Sachchidanand Mishra

Ppric :

Printed at : The Mahaveer Press
Bhelupur, Varanasi-10.

EDITORIAL NOTE

I am immensely pleased to get the singular and momentous opportunity of presenting the Special issue of **Ānvikṣikî** in the Centenary Year of Banaras Hindu University. To mark the academic celebration of this great and grand event and also to carry forward the dauntless and enthusiastic spirit of maintaining the publication of excellent research findings by the founding fathers of the philosophical studies at this internationally renowned university, a serious attempt has been made to showcase the rainbow and emerging spectra of multy-faceted philosophical wisdom within the pages of this volume of **Ānvikṣikî** . The research articles included in this Special issue cover a vide range of debate and discussion on varied aspects of philosophical thinking by promising scholars who have made their remarkable niche in Indian Philosophical domain. Since **Ānvikṣikî '**is most vital academic organ of the department, it was considered essential to add even the profile in the grand history and tradition of the department which was once among the most celebrated centers of Advance Study in philosophy in India in 1960s and early 1970s. One can clearly hear the scholarly resonance and feel the vibration of Philosophical wisdom of the contributors in their learned writ-ups. This journal has been carrier and courier of the ideas and thinking of P.B. Adhikari, S.K. Maitra, S. Radhakrishnan, B.L. Atreya, T.R.V. Murty, N.K. Devraj, R.K. Tripathi and A.K. Chatterjee. All the contributors to this special volume deserve my special thanks and admiration. But for their help and cooperation, the publication of this issue would have been impossible. The blessings of Late Pt. Madan Mohan Malviya have been incessantly showering throughout during the preparation and publication of this volume and therefore, this special issue is dedicated with deep veneration and reverence to this memory of that Great Departed Soul.

Shriprakash Pandey

4 - Blank

CONTENTS

1. देवब्रत चौबे 7—17
Hkxonxhrk vkj egkeuk ekyoh; th

2. सच्चिदानन्द मिश्र 19—34
lfodYid iR;{k d vikek.; dh ck) nf"V

3. श्रीप्रकाश पाण्डेय 35—45
Jh vjfoUn n'ku dh rkfdd i"BHkfe

4. अरविन्द कुमार राय 47—65
vk/kfud foKku e iek.k ,o lkUn;

5. N.K. Devaraja 67—75
Contemporary Relevance of Traditional Indian Values

6. Sanjay Kumar Shukla 77—97
Philosophical Contributions of J.L.Mehta: Some Reflections

7. C.D. Sebastian 99—122
Speculative Metaphysics in A. K. Chatterjee

8. R.C. Pradhan 123—137
Reason and Beyond Reason: Nagarjuna's Metaphysics of Śūnyatâ and Its Contemporary Relevance

9. Debashish Guha, 139—162
Value Crises And The Fifth Pillar Response

10. Mukul Raj Mehta 163—173
Lord Mahavir And Jaina Value-Education

Black page 06

भगवद्गीता और महामना मालवीय जी

देवव्रत चौबे

''मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष भगवान् कृष्ण हुए हैं। मेरा दूसरा विश्वास यह है कि पृथ्वी मण्डल की प्रचलित भाषाओं में उन भगवान् कृष्ण की कही हुई भगवद्गीता के समान छोटे वपु में इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।''[१]

गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी उत्पत्ति युद्ध के मैदान में हुई। दोनों ओर सेनाएँ खड़ी हैं, शंखनाद हो चुका है। उस समय दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा हुआ अर्जुन अपने विपक्ष में अपने संबंधियों को देखकर अत्यन्त दुःखी होता है और मोह के कारण युद्ध नहीं करना चाहता। उसका मन नाना प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए महामना कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में उसकी शंकाओं का समाधान कृष्ण को छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता था। क्योंकि कृष्ण साक्षात् ब्रह्म ही हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थ का अपना गुरु तथा अपना आचार्य होता है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य हैं वैसे ही अन्य ग्रन्थों के ऋषि मुनि हैं। लेकिन गीता में स्वयं ब्रह्म मानव का रूप धारण कर अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं। इसलिए कृष्ण का उपदेश आज की पीढ़ी के लिए भी उतना ही लाभप्रद है जितना अर्जुन के लिए था। मालवीय जी के शब्दों में- ''संसार में झगड़े होते हैं, उपद्रव होंगे और होते हैं। ऐसे संसार में, ऐसी स्थिति में जीवन लाभ देने वाला अमूल्य ग्रन्थ गीता ही है। इसमें धर्म और राजनीति का मेल है। पृथ्वी-मंडल पर ऐसी पुस्तक नहीं है, जब आपत्ति हो तब गीता से उत्तर पूछे और अनुकूल उपाय करे।''[२] गांधी जी भी हर संकट के समय गीता की शरण में जाते थे

और समस्याओं का समाधान पाते थे। उन्हीं के शब्दों में ''मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता-माता के पास दौड़ा आता हूँ और अब तक आश्वासन पाता आया हूँ।''[३]

भारत के स्वातंत्र्य आन्दोलन में गीता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, महामना पं० मदनमोहन मालवीय तथा महात्मा गांधी जैसे सभी दिग्गज नेता गीता से प्रभावित थे। क्योंकि गीता से उन्हें आत्मबल तथा निर्भयता मिलती थी। वे नेता मृत्यु से बिल्कुल ही भयभीत नहीं होते थे क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं कि- मृत्युः सर्वहराश्चाहम्। मृत्यु तो साक्षात् भगवान् का रूप ही है। फिर भय किसका? लेकिन महामना को इस बात का कष्ट है कि गीता के उपदेशों को हमने सैकड़ों वर्षों तक व्यावहारिक धरातल पर नहीं उतारा। इसलिए हमारा देश पराधीन हो गया। वे कहते हैं कि हम भगवान् कृष्ण के निम्नलिखित कथन को भूल जाए-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। ६ : ५।।

'अपना उद्धार अपने आप करे, अपने को नीचे न गिरावे क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र भी है और शत्रु भी है।' मालवीय जी कहते हैं कि- ''इस वाक्य के अनुसार हम लोगों की जो अधोगति हुई है वह हमारे ही दोषों और पापों से हुई है। हमारी उन्नति तभी होगी जब हम अपने उद्धार के लिए स्वयं यत्न करेंगे।''[४] महामना का ऐसा मानना है कि इधर हमारे देशवासियों के अन्दर भी यह चेतना पैदा हुई है कि हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तथा साथ ही साथ उन्नति के शिखर पर पहुँचना भी है। पराधीन देश उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए लोकमान्य तिलक ने कहा कि- 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम इसे लेकर रहेंगे।' मालवीय जी भी कहते हैं कि- ''स्वतंत्रता प्राप्त करने का निश्चय अब पहले से भी कहीं अधिक प्रबल है।''[५] यहाँ पर यह अवधेय है कि हमारे देशभक्त नेताओं के साथ-साथ हमारे देशवासियों ने भी गीता को अपने जीवन से जोड़ा और अन्त में स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई।

महामना मालवीय जी मानते थे कि गीता ने कर्म करने की विलक्षण पद्धति मानवजाति को सिखायी है। भगवान् कृष्ण का उपदेश है कि सामाजिक जीवन के संघर्षों के बीच रहते हुए व्यक्ति को अपना कर्तव्य निःस्पृह होकर करते रहना है। कर्म करना

मनुष्य का स्वभाव है। कोई भी मनुष्य कर्म का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि फलाशा छोड़कर कर्म किया जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो मनुष्य उस ऊँचे लक्ष्य से भटक जाएगा जिसके लिए उसका अस्तित्व है। मालवीय जी के शब्दों में- ''जो लोग निष्काम भाव से काम नहीं करते, किन्तु अपने यश-कीर्ति या किसी और उद्देश्य से करते हैं, वे अपने कार्यों में सफल नहीं होते। न ऐसे कई लोग आपस में मिलकर किसी कार्य को चला सकते हैं। कारण यह कि एक समझता है कि 'इससे अमुक का नाम हो रहा है, मैं इसमें क्यों अपना समय और शक्ति नष्ट करूँ?' ऐसा ही दूसरा समझता है और ऐसा ही तीसरा- परिणाम यह होता है कि उन लोगों में परस्पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं और कार्य सफल नहीं होने पाता। किन्तु जहाँ निष्काम भाव से कार्य होता है वहाँ लोग एक-दूसरे की सफलता देखकर प्रसन्न होते हैं और एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है और कार्य में शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है। सकाम भाव से कार्य करने वालों को आपत्तियाँ कार्य करने से विमुख कर देती है।''[६]

व्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि फल की कामना से जो व्यक्ति कार्य करता है, वह कामना की पूर्ति न होने पर नाना प्रकार के विकारों से ग्रसित हो जाता है। संकीर्णता से दुर्बल हो जाता है। आपत्ति आने पर किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाता है। इसीलिए तो भगवान् कृष्ण आसक्त भाव से कार्य न करने की शिक्षा देते हैं। मालवीय जी कहते हैं कि अनासक्त भाव से काम करने वाला व्यक्ति विपत्तियों से न घबड़ाता है और न अपने काम से पीछे हटता है। क्योंकि वह उस कार्य को ईश्वर का कार्य मानता है। उन्हीं के शब्दों में ''निष्काम भाव से कर्म करने वाले लोग यह समझकर कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह ईश्वर का कार्य है और इसमें ईश्वर हमारा सहायक है किसी विघ्न या बाधा के कारण पीछे नहीं हटते।''[७] उनमें सामाजिक हित की भावना विद्यमान रहती है।

महामना का कहना है कि निष्काम भावना से यदि हम कार्य करेंगे तो देश में परस्पर फूट एवं विरोध के जितने कारण हैं वे सभी नष्ट हो जायेंगे तथा राष्ट्र बलशाली हो जाएगा। जातीय दुर्बलता का विनाश हो जाएगा।[८] लेकिन दुर्भाग्य यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम उनके कथन को भूल गए और इतने स्वार्थी हो गए कि हमारे अन्दर

से सामाजिक हित की भावना ही लुप्त हो गई। देश की प्रगति इसी कारण अवरुद्ध हो गई। ''हम सामाजिक संदर्भ में बुरी तरह विफल हैं। सामाजिक संपत्ति किसी की सम्पत्ति नहीं है। सार्वजनिक नल किसी का नल नहीं है। हम केवल अपने ही नलों से संबंध ा रखते हैं। हम गली में लगे सार्वजनिक नल से पानी बहता और नष्ट होना स्वीकार कर लेते हैं, हमें दुख नहीं होता क्योंकि यह मेरा नहीं है। इस प्रकार की स्व की क्षुद्रता ने हमारे राष्ट्र को आच्छादित कर लिया है और दुर्बल बना दिया है।''[६] इसीलिए महामना कहते हैं कि इस प्रकार की संकीर्णता से मुक्ति गीता के कर्मयोग की शिक्षा से ही मिल सकती है।

मालवीय जी मानते थे कि गीता का संन्यास कर्ममात्र के त्याग को स्वीकार नहीं करता, निष्कामता को स्वीकार करता है। कर्म के ईश्वर अर्पण को स्वीकार करता है। वे कहते हैं– ''फलासक्ति को त्याग कर किए हुए लोकहितकर कार्य भगवान् द्वारा अवश्य पुरस्कृत होते हैं। सच्ची निष्ठा के साथ किया गया कोई कर्म आज तक भगवान् से अपुरस्कृत नहीं रहा। जो कुछ करो, धरो, भगवान् को समर्पित करते चलो, यही मानव जीवन की सार्थकता है।''[१०] ऐसे कर्मों के करने से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण तो होता ही है, साथ ही साथ भगवत् प्राप्ति भी हो जाती है। इसलिए वे भक्तिमिश्रित निष्कामकर्मयोग को ही विशेष महत्व देते थे।

उनका कहना था कि गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण कर्मयोगियों को इस बात की शिक्षा देते हैं कि केवल कर्तव्य कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि हमें सभी कार्यों को इस भावना से करना चाहिए कि हम भगवान् के सेवक हैं।[११] लोकमान्य तिलक कहते हैं कि परमेश्वर को अर्पण कर सभी कर्मों को निष्काम बुद्धि से लोकसंग्रहार्थ करते रहने से यह एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है और फिर इस यज्ञ के लिए जो कर्म किया जाता है, वह बंधन नहीं होता। और अंत में मोक्ष की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।[१२]

आचार्य शिवपूजन सहाय ने अपने एक लेख में लिखा है कि ''गीताप्रवचन में महामना विशेषतः ईश्वरभक्ति, ईश्वरप्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। गीता का अमर संदेश यही बतलाते थे कि निष्कपट भाव से मनुष्य भगवद् भजन में दत्तचित्त ही रहे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए ही भजन

सुमिरन होना चाहिए। जीवदया और लोकोपकार की प्रेरणा से किए हुए सभी कर्म भगवान् को संतुष्ट करते हैं। अतः भक्ति और भजन के बहाने लौकिक कर्मों से उदासीन या विरक्त होना उचित नहीं।''

आचार्य सहाय महामना की यह भी विशेषता बतलाते थे कि वे गीता के शब्दों का नये-नये अर्थों में भी प्रयोग करते थे। सहाय के ही शब्दों में- ''जैसे 'सततं कीर्त्तयन्तो मां' में जो 'सततं' शब्द है उसके संबंध में उन्होंने बताया था कि इस शब्द का अर्थ 'निरंतर तो है ही, 'तत' का अर्थ 'वीणा' भी है, अतः वीणामृदंगादि के साथ संकीर्तन करने से भगवान् विशेष प्रसन्न होते हैं, क्योंकि संगीत द्वारा मनुष्य में तल्लीनता आती है और वह अनायास भगवद् भजन में तन्मय हो जाता है। गीता के आरम्भ के प्रथम श्लोक में जो 'युयुत्सवः' शब्द है उसका अर्थ योद्धागण तो है ही, उसमें 'युयुत्सु' मल्लविद्या का भी सूचक है; क्योंकि उस युग में सभी वीर पुरुष मल्लविद्या में निपुण होते थे और जापान में मल्लविद्या के लिए जो 'युयुत्सु' शब्द प्रचलित है वह भारतवर्ष की ही देन है, अतः सब लोगों को कसरत करना चाहिए और कसरती शरीर के लिए ब्रह्मचर्यपालन परमावश्यक है तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विशुद्ध गो दुग्धपान सर्वथा अनिवार्य है।''[१३] इसलिए महामना कहते हैं कि सब जाति, धर्म और सम्प्रदाय के मनुष्यों को गो वंश को बलवान् तथा दीर्घायु बनाना चाहिए जिससे शुद्ध और सस्ता गौ का दूध ा गरीब से गरीब भाइयों को भी मिल सके।[१४] गो से जितना हित होता है उसकी माप नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मालवीय जी के गो सेवा तथा गो रक्षा संबंधी विचार कृष्ण के इस कथन से ही उत्पन्न हुए थे कि 'गायों में मैं सुरभि हूँ।'[१५] श्री वासुदेवशरण अग्रवाल जी लिखते हैं कि ''उनकी (मालवीय जी की) निजी दृष्टि में और उनके सब कार्यों में उनके गो-रक्षा संबंधी प्रयत्न उनके हृदय के निकटतम थे।''

महामना गीता की समत्व की अवधारणा को उसकी मौलिक देन मानते हैं। उनका कहना है कि जो भेदभाव समाज में हमें दीखता है वह अज्ञानता का परिणाम है। ज्ञानी की दृष्टि में विद्वान्, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल सब एक समान हैं।[१६] शाश्वत तत्त्व सबमें एक ही जैसा है। ब्रह्म की ज्योति सभी शरीरों में रहती है। उस पर उन शरीरों के अन्तर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिसे वह प्रकाशित करती है। वे कहते हैं कि

भगवान् कृष्ण समदर्शी व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाते हैं कि जैसे वह अपना भला चाहता है, उसी तरह वह सबका चाहता है।[१७] भगवान् कृष्ण ऐसे समदर्शी को सर्वश्रेष्ठ योगी कहते हैं क्योंकि वह केवल स्वान्तः सुख के लिए सिद्धि नहीं चाहता अपितु अन्यों के लिए भी चाहता है।

यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक जान पड़ता है कि साम्यबुद्धि की प्राप्ति के लिए ईश्वर की भक्ति आवश्यक है। क्योंकि भगवान् कृष्ण का कहना है कि सभी प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूँ। न तो मैं किसी से द्वेष करता हूँ, न पक्षपात। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे अन्दर हैं और मैं भी उनके अन्दर हूँ।[१८] महामना कहते हैं कि भगवद् भक्ति ही एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा सामाजिक विषमता एवं अन्याय को मिटाया जा सकता है। भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है। उच्च तथा निम्नजाति का कोई भेद नहीं है। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि वैश्य-शूद्र, स्त्री सभी मेरी शरण में आकर उत्तम गति को प्राप्त कर सकते हैं। महामना का ऐसा मानना है कि भक्ति में द्वैतभावना का निराश होता है और प्राणिमात्र में एकता का भाव उपजता है। भगवान् कृष्ण को ऐसी ही भक्ति वांछनीय है।[१९] साम्य-बुद्धि प्राप्त भक्त संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानते हैं क्योंकि उनको सर्वत्र यही दीखता है कि मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं।[२०] वे प्राणियों की सेवा को ईश्वर की ही सेवा मानते हैं क्योंकि ईश्वर सबमें निवास करते है। वे कहते हैं कि प्राणिमात्र में ईश्वर का भाव देखना ही उसकी सबसे उत्तम पूजा है।[२१] चूँकि वह प्राणिमात्र में विद्यमान है इसलिए सभी जीवधारियों से प्रेम करना चाहिए तथा सभी के हित में सर्वदा लगे रहना चाहिए।

मालवीय जी कृष्ण की इस प्रतिज्ञा को प्रेरक मंत्र मानते हैं कि 'सब धर्मों का भरोसा छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूँगा। सोच मत करो।' वे कृष्ण के इस कथन को इसलिए प्रेरणा का स्रोत मानते हैं क्योंकि भगवान् पूर्ण रूप से हम सबसे आत्मसमर्पण चाहते हैं तथा वे इसके फलस्वरूप हमें ऐसी शक्ति प्रदान करते हैं जो प्रत्येक परिस्थिति को बदल देती है। अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् हम सभी को यह आश्वासन देते हैं कि अपने आप को जो मुझ कृष्ण पर समर्पण कर देगा उसका मार्गदर्शन मैं स्वयं करता रहूँगा। इसलिए मालवीय जी कहते हैं कि- ''जो लोग

अपना मंगल चाहते हैं। उनको चाहिए कि भगवान् कृष्ण की शरण में आवें।''[२२]

महामना कहते हैं कि गीता में दैवीय हस्तक्षेप का आश्वासन कई बार दिया गया है। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि प्रत्येक युग में जब कभी धर्म का ह्रास होता है और अधर्म बढ़ने लगता है तब मैं साधुओं की रक्षा के लिए तथा दुष्टों के दलन और धर्म की स्थापना के लिए जन्म धारण करता रहता हूँ। उनका यह आश्वासन संपूर्ण मानव जाति को अन्याय, अधर्म और अनर्थ के विरोध में संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। मालवीय जी के शब्दों में- ''धर्म के लिए सब कुछ अर्पण कर दे, प्राण तक दे दे, पर अधर्म और अनर्थ न होने दे। जहाँ धर्म है, वहाँ परमात्मा का भरोसा है।''[२३]

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि मालवीय जी अहिंसा के पक्षधर होते हुए भी न्याय एवं धर्म की रक्षा के लिए हिंसा का समर्थन करते हैं। वे गांधी जी की तरह यह नहीं मानते कि गीता में हिंसा का समर्थन नहीं किया गया है। वे कहते हैं कि गीता के उपदेश के फलस्वरूप ही अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो गया। उन्हीं के शब्दों में- ''कृष्ण भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! हे परंतप! शत्रुओं को तपाने वाले, आज तुम में कश्मल कहाँ से आया, आज आर्य धर्म को कैसे छोड़ने लगे, यह दुर्बलता कहाँ से आई? उठो, यह पौरुषहीनता छोड़ दो, मारो और मरो। भगवान् ने अर्जुन को वीर रस से भर दिया।''[२४] यदि व्यापक हित के लिए हिंसा अनिवार्य प्रतीत हो तो वैदिक दृष्टि उसका निषेध नहीं करती। लोकमान्य तिलक इसी मत के पक्षधर हैं। उन्हीं के शब्दों में- ''किसी समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए आततायी पुरुष का विनाश करने से 'अहिंसा परमो धर्म' की नीति की उपेक्षा नहीं होती।'' महामना भी कहते हैं कि- ''धर्म और उद्यम दोनों को लेकर अधर्म का, अन्याय का नाश करना जरूरी है। हिम्मत न छोड़ो। भगवान् का वचन है कि दुष्टों का दमन करो और धर्म की स्थापना करो।''[२५] भगवान् कृष्ण के उपदेश में दुर्बलता और भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। उपनिषद् और गीता दोनों केवल शक्ति की महत्ता बतलाते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'शक्ति, शक्ति, केवल यही ध्वनि उपनिषदों के प्रत्येक पृष्ठ से मुझ तक आती है।'' गीता के श्लोक हमें निद्रा से जगाते हैं और उत्साह देते रहते हैं। इसलिए मालवीय जी लिखते हैं कि- ''जिसका मित्र उत्साह बढ़ाने वाला हो, जिसको धर्म का बल हो, उसे विजय प्राप्त होती है। पुनः उन्हीं के शब्दों

में- ''भगवान् अपने भक्त अर्जुन के साथ युद्ध में सदा रहने के लिए और उनको उत्साह देने के लिए, उनके सारथी बने।''[२६]

गीता के इस श्लोक 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' में मालवीय जी का अटूट विश्वास है। उनका कहना है कि यह श्लोक हम सभी को अपने ऊपर भरोसा रखने का संदेश देता है। किसी अन्य के साँचे में अपने को न ढालना ही स्वधर्म है। सुभाषचन्द्र बोस लिखते हैं कि बंगाली के लिए स्वधर्म का त्याग आत्महत्या के समान पाप है। बंग जननी तरुण संन्यासियों का दल चाहती है।.....यदि स्वदेश सेवा में प्राण विसर्जन करना पड़े तो स्वर्गद्वार तुम्हारे लिए खुला है।[२७] मालवीय जी के अनुसार भी आर्य सन्तान का सबसे बड़ा धन स्वधर्म है। इसलिए उन लोगों ने सामर्थ्य रहते स्वधर्म का त्याग नहीं किया। उनका कहना है कि भगवान् कृष्ण ने चातुर्वर्ण्य के विषय में यह कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की रचना मैंने गुण और कर्म के भेद से की है। अपने पृथक्-पृथक् नियत स्वकर्मों का पालन ही स्वधर्म है। वर्ण व्यवस्था का विधान प्रत्येक मनुष्यों को संगठित कर उन्हें सुखी, सुसम्पन्न, स्वतंत्र और अन्त में मुक्त बनाने के लिए हुआ है। समाज में सभी धर्मों का मूल्य एक जैसा है। गांधी जी मालवीय जी की तरह ही प्रत्येक वर्ण के निर्धारित कर्म को महत्वपूर्ण मानते थे। उन्हीं के शब्दों में- ''समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखने वाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय परन्तु झाड़ू देने वाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जाएगा और समाज को हानि पहुँचेगी। ईश्वर के दरबार में दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जाएगा। पेशे की कीमत वहाँ तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य-पालन करें तो समान रूप से मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।''[२८] यहाँ यह स्पष्ट है कि कोई भी नियत कर्म ऊँचा-नीचा नहीं है।

महामना ने १० सितम्बर १९३५ को हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों की विशाल सभा में भाषण देते हुए कहा था कि आप के जीवन को पवित्र, सुखी और नियतयुक्त बनाने में गीता का यह श्लोक बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। ६ : १७।।

उपर्युक्त श्लोक हमें यह शिक्षा देता है कि जीवन के लिए परमितता और नियमन आवश्यक है। व्यक्ति को सभी कर्मों में संयम रखना चाहिए। आहार-निद्रा का सेवन आवश्यकता से अधिक नहीं करना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में- ''सभी बातों में संयम सीखो। वाणी में संयम, भोजन में संयम रखो और अपने सभी कार्यों में शीलवान् बनो।'' गीता की यही शिक्षा है कि मनुष्य-समाज का कल्याण जीवन को संयमित एवं नियमित रखने में ही है।

मालवीय जी गीता से कितने प्रभावित थे इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वे गीता का संदेश छात्रों, अध्यापकों और सामान्यजनों तक पहुँचाने के लिए अनवरत प्रयास करते रहे। उन्हीं के अनुसार- ''मेरा विश्वास है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्यक्रम में साप्ताहिक गीता प्रवचन का प्रबंध अन्य विषयों के पठन-पाठन से कम गौरव का नहीं है, बल्कि सबसे अधिक गौरव का है। यह हमारे कल्याण का साधन है। जो विद्यार्थी और अध्यापक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हों उनके लिए यह आवश्यक है कि वे इसमें सम्मिलित होकर इसका पुण्यफल पावें।''[२९] गीता जयन्ती पर भाषण देते हुए वे कहते हैं कि- ''गीता जयन्ती को प्रार्थना करनी चाहिए। प्रतिवर्ष उत्सव मनावें, रविवार को जहाँ जिस-जिस जगह देश में भारतवासी हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान कोई भी हो, जो भारतवर्ष की सन्तान हैं या भारतवर्ष के दिव्य संदेश के प्रेमी हैं, वे सब प्रत्येक रविवार को आठ से नौ बजे सबेरे गीता-पाठ करें।''[३०] उन्हें ऐसा विश्वास है कि गीता का पाठ करने वाला व्यक्ति विष्णु लोक को प्राप्त करता है। वे कहते हैं कि प्रतिदिन जल स्नान करने वाले मनुष्य का बाहरी मल धुल जाता है; किन्तु गीता रूपी जल में एक बार के स्नान मात्र से संसार रूपी मल नष्ट हो जाता है। गीता के लिए कहा गया है :-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्।।

सभी उपनिषद् गौ हैं, उनको दुहने वाले गोपालनन्दन कृष्ण हैं, अर्जुन बछड़े हैं, बुद्धिमान लोग दूध पीने वाले हैं और गीता ही अमृतमय दुग्ध है। इसलिए हम सबका यह कर्तव्य है कि अर्जुन की तरह अधिकारी बनकर गीतामृत रूपी दूध का पान करें। और उस अमृत को पीकर लौकिक तथा पारलौकिक जीवन को सफल बनावें। महामना की दृष्टि में इसीलिए ''गीता संसार का एक अनमोल रत्न है और उसके एक-एक अध्याय में कितने रत्न भरे पड़े हैं। इसके पद-पद और अक्षर-अक्षर से अमृत की धारा बहती है।'' जीवन के विकास के विचारों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। यह विकास का कोष है। उनके अनुसार- ''जैसे अंधेरे में लालटेन हमें प्रकाश देती है और हमें ठीक मार्ग बताती है, ठीक उसी प्रकार गीता भी हमें कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान कराती है। यह हमें आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों का ऊँचे से ऊँचा उपदेश देती है।''[३१] वे यह भी कहते थे कि यदि हम गीता के सिद्धान्तों को अपने आचरण में ढालने की कोशिश करेंगे तो उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायेंगे।

महामना को विश्वास है कि गीता का दर्शन ही पूरी दुनिया को एक सूत्र में बाँधा सकता है तथा भयानक विनाश से बचा सकता है। इसलिए वे कहते थे कि हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों का पुनीत कर्तव्य है कि गीता का अध्ययन कर देशभर में उसका प्रचार करें। क्योंकि हिन्दू धर्म केवल हिन्दुओं की सेवा का ही पक्षधर नहीं है। उसने सर्वदा संपूर्ण मानवजाति की सेवा करके ही आत्मतुष्टि का अनुभव किया है।

आचार्य, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. महामना मालवीय जी की अभिलाषा, कल्याण, भाग-४, अंक-१, श्रीमद्भगवद्गीताङ्क, पृ० १२ क, (संपादक-बाबा) राघवदास, हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् १९८६
२. महामना श्री पण्डित मदनमोहन जी मालवीय के लेख और भाषण (भाग-१ धार्मिक), संकलनकर्ता-वासुदेवशरण, पृ० १६८, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६२
३. महात्मा गांधी, गीता माता, भूमिका, यरवदा जेल, ४-११-१९३०, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
४. अभ्युदय, मार्गशीर्ष-कृष्ण ९, सं० १९६४

५. सीताराम चतुर्वेदी, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय (तृतीय खण्ड) पृ० २०६, पौष कृष्णाष्टमी, संवत् १९९३ वि०
६. अभ्युदय, २६ मार्च १९०९
७. वही
८. वही
९. स्वामी रंगनाथानन्द, भगवद्गीता का सार्वजनीन संदेश (भाग-१) पृ० १६०, रामकृष्ण मठ, नागपुर, २००९
१०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, महामना जन्मशती विशेषांक, अंक-२-३-४, पृ० ५४६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २०१८
११. गीता ३ : ३०, १८ : ५९-६२
१२. लोकमान्य तिलक, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृ० २९२, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, २००७
१३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक-२-४, पृ० ५४६, संवत् २०१८
१४. 'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष-२, अंक-१६, १५ नवम्बर १९५४ ई०
१५. गीता १० : २८
१६. गीता ५ : १८, महामना श्री पण्डित मदन मोहन जी मालवीय के लेख और भाषण, पृ० ३६
१७. गीता ६ : ३२, वही
१८. वही ९ : २९
१९. वही १२ : १३-१९
२०. वही ६ : २९
२१. महामना श्री पण्डित मदनमोहन जी मालवीय के लेख और भाषण, पृ० ४१
२२. वही, पृ० ४६
२३. वही, पृ० १७४
२४. वही, पृ० १६८
२५. वही, पृ० १६७
२६. वही, पृ० ५०
२७. विवेक ज्योति, वर्ष-५३, अंक-८, पृ० ३८४, रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, अगस्त २०१५
२८. महात्मा गांधी, गीता माता, पृ० ९०, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
२९. महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय (द्वितीय खण्ड), पृ० ०१
३०. सनातन धर्म, साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक-२१, पृ० १५, १५ दिसम्बर १९३५ ई०।
३१. महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय (द्वितीय खण्ड), पृ० ०६।

Black page 18

सविकल्पक प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य की बौद्ध दृष्टि

सच्चिदानन्द मिश्र

ज्ञान को हम दो प्रकारों में बाँट सकते हैं एक तो वे ज्ञान जो नाम, जाति आदि को विषय करते हैं तथा दूसरे वे जो नाम जाति आदि को विषय नहीं करते। हमारे सारे व्यवहार सविकल्पक ज्ञान पर आधारित होते हैं। वह चाहे सफल हो या असफल हमारी हर एक प्रवृत्ति सविकल्पक ज्ञान पर ही आधारित होती है। निर्विकल्पक ज्ञान से कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं होता है। इसी कारण तत्त्वचिन्तामणि में गंगेशोपाध्याय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भ्रम तथा प्रमा दोनों से बहिर्भूत मानते हैं।[1] वस्तुतः यदि कोई दार्शनिक सम्प्रदाय सफलप्रवृत्तिजनकता को या संवादकता को ज्ञान के प्रमात्व या अप्रमात्व की कसौटी मानता हो तो ऐसा सरलतया प्रतीत होता है कि उस सम्प्रदाय को सविकल्पक ज्ञान का परिस्थितिविशेष में प्रमात्व तथा अप्रमात्व दोनों ही स्वीकार करना चाहिए। इसी कारण यह अकारण नहीं है कि भारतीय दर्शन परम्परा में सामान्यतया सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। चूँकि हमारी सफल प्रवृत्ति अनेक बार सविकल्पक प्रत्यक्ष पर निर्भर होती है। इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसी कारण जिस प्रकार से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, उसी के समानान्तर सविकल्पक प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य स्वीकार्य है। यहाँ तक कि मध्व परम्परा के अनुयायी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते हैं परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य उन्हें भी स्वीकृत है। यही रीति सामान्यतया अन्य दर्शनों में भी दिखती है। परन्तु दिङ्नाग व धर्मकीर्ति का अनुगमन करनेवाली बौद्ध परम्परा में इसके विपरीत प्रवृत्ति दिखायी देती है। दिङ्नाग व धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष में केवल निर्विकल्पक

को ही प्रमाण मानने का पक्ष रखते हैं, जो कि एक अनूठा पक्ष है। दिङ्नाग व धर्मकीर्ति जब कहते हैं कि केवल दो ही प्रमाण हैं प्रत्यक्ष व अनुमान क्योंकि उनके अनुसार केवल दो ही प्रकार के विषय हैं स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण। यदि ये ही दो प्रमाण हैं, जिसमें कि प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पनापोढ हुआ करता है, तो सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की बात कहीं से भी स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती। बौद्ध अवधारणा के अनुसार दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। एक तो ऐसे ज्ञान जो शुद्ध संज्ञानात्मक होते हैं और दूसरे जो शुद्ध संज्ञानात्मक नहीं होते। यही शुद्ध संज्ञानात्मक ज्ञान निर्विकल्पकात्मक ज्ञान है। इसके विपरीत सविकल्पक ज्ञान शुद्ध संज्ञानात्मक नहीं होता। उसमें हमारी कल्पना का समावेश होने के कारण उसका प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जाता। इस प्रकार प्राथमिक दृष्टि से सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य बौद्ध दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं है, ऐसा ही प्रतीत होता है। दिङ्नाग प्रमाणसमुच्चय में चार प्रकार के प्रत्यक्षाभासों की गणना करते हैं। उनमें संवृतिसत् ज्ञान का भी परिगणन है। यह संवृतिसत् ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है। इसी प्रकार दिङ्नाग का अनुसरण करते हुए प्रमाणवार्तिक में धर्मकीर्ति भी चार प्रकार के प्रत्यक्षाभासों का परिगणन करते हुए संवृति सत् ज्ञान यानी सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षाभास के रूप में परिगणित करते हैं। ध्येय यह है कि इन प्रत्यक्षाभासों में अनुमान की परिगणना है, जबकि बौद्ध परम्परा में अनुमान को प्रमाण के रूप में मान्यता दी गयी है। इस कारण किसी ज्ञान के प्रत्यक्षाभास होने से उस ज्ञान का अप्रामाण्य भी हो यह आवश्यक नहीं है। इस कारण यह विचारणीय हो जाता है कि बौद्ध परम्परा में इस सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जाता है या इसका किसी प्रमाण में अन्तर्भाव होता है। प्रत्यक्ष की परिभाषा लागू न होने के कारण सीधे-सीधे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना जल्दबाजी होगी कि बौद्ध परम्परा में सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नितान्त अस्वीकार्य है। यह भी ध्यातव्य है कि बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति अनेक स्थलों पर अनुमान की भ्रान्तिरूपता का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु अनुमान का प्रामाण्य धर्मकीर्ति के अनुसार स्वीकृत नहीं हो, ऐसा नहीं है। वे अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। इसी कारण यह प्रश्न विशेष रूप से विवेचनीय हो जाता है कि बौद्ध परम्परा में इस सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की क्या स्थिति है? क्या यह अनुमान में अन्तर्भूत है? या नितान्त अप्रमा है?

प्रस्तुत आलेख में मेरा उद्देश्य यह विवेचित करना है कि इन बौद्ध दार्शनिकों की दार्शनिक रुझान क्या है, जिसके अनुसार वे सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निषेध करने में सक्षम हैं। इस आलेख में सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को सिद्ध करनेवाली न्याय या मीमांसा आदि दर्शनों की युक्तियों को सामान्यतया प्रस्तुत करने का हमारा उद्देश्य नहीं है, अपितु सिर्फ यह देखने का प्रयास है कि बौद्ध दार्शनिकों की इस स्वीकृति का आधार क्या है? संक्षेप में कहा जाये तो बौद्ध परम्परा के अन्दर रहते हुए यह देखने की हमारी कोशिश है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायी प्रमाण क्यों नहीं मानते।

यद्यपि न्याय दर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अगर हम देखें, तो यह सुस्पष्ट है कि निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ही प्रत्यक्षों के विषय समान होते हैं। इन दोनों ही प्रत्यक्षों के विषयों में कोई अन्तर नहीं है। नव्यनैयायिक निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्षों के विषय में कोई भेद नहीं मानते। इनका कहना है कि दोनों के विषय एक ही हैं, परन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषयता अलग प्रकार की होती है। इसके विपरीत सविकल्पक प्रत्यक्ष की विषयता प्रकारता, विशेष्यता या संसर्गता में से कोई विषयता होती है। जबकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में प्रकारता, विशेष्यता या संसर्गता में से कोई भी विषयता नहीं होती। इनसे विलक्षण विषयता निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषयता होती है। निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्षों के विषयों में भेद न होने पर भी दोनों की विषयताओं के विलक्षण होने के कारण दोनों ज्ञानों में भेद सम्भव होता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो सविकल्पक ज्ञान में कोई विषय विशेषण के रूप में प्रतीत होता है, कोई अन्य विषय विशेष्य के रूप में तथा अन्य कोई विषय सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है। जबकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी भी विषय को हम न तो विशेषण के रूप में जानते हैं, न तो विशेष्य के रूप में और न ही सम्बन्ध के रूप में जानते हैं। सविकल्पक ज्ञान की निर्विकल्पक ज्ञान से यही भिन्नता है। वही विषय जब विशेषण, विशेष्य व सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है, तो हमको सविकल्पक ज्ञान होता है। इसके विपरीत जब हमें वही विषय विशेषण, विशेष्य व सम्बन्ध के रूप में ज्ञात नहीं होते, हमारा ज्ञान निर्विकल्पकात्मक होता है। इस कारण निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों के विषय समान होने पर भी ज्ञान की भिन्नता हो जाती है क्योंकि सविकल्पक का विषय विशिष्ट हुआ करता है जबकि निर्विकल्पक का विषय

विशिष्ट नहीं होता। नैयायिक प्रमा तथा अप्रमा की परिभाषा प्रकार को अन्तर्भूत करते हुए प्रस्तावित करते हैं। प्रकार का तात्पर्य विशेषण से है। जब कोई वस्तु कहीं पर प्रकार के रूप में यानी कि विशेषण के रूप में जानी जाती है, और वहाँ पर वह वस्तु विद्यमान होती है। उस स्थिति में हम उस ज्ञान को प्रमा कहेंगे। इसके विपरीत यदि वस्तु कहीं पर प्रकार के रूप में यानी कि विशेषण के रूप में जानी तो जाती है, परन्तु वहाँ पर वह वस्तु विद्यमान नहीं होती। उस स्थिति में नैयायिक उस ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। इसी कारण नैयायिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा तथा अप्रमा दोनों से बहिर्भूत मानते हैं क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पर न तो प्रमा की परिभाषा लागू होती है और न ही अप्रमा की परिभाषा लागू होती है।

इसके विपरीत अवधारणा बौद्ध दार्शनिक प्रस्तावित करते हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रमाणों का भेद विषय के भेद से स्वीकार करते हैं। दो प्रकार के विषय हैं इस कारण दो प्रकार के प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण तथा अनुमान का विषय सामान्यलक्षण हुआ करता है। न केवल इतना ही अपितु प्रत्यक्ष का विषय सामान्यलक्षण नहीं हो सकता और अनुमान का विषय स्वलक्षण नहीं हो सकता। इन दोनों प्रमाणों का भेद विषय के भेद के कारण ही हुआ करता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण नियमतः होता है। अनुमान का विषय सामान्यलक्षण हुआ करता है। इन दोनों में विषय की व्यवस्था में कोई असुविधा नहीं है। परन्तु बीच में एक सविकल्पक प्रत्यक्ष आ जा रहा है, जिसका विषय स्वलक्षण नहीं है, अपितु सामान्यलक्षण है। विचित्रता यह है कि इस सविकल्पक प्रत्यक्ष पर प्रमाण की दोनों ही परिभाषाएँ लागू होती हैं।

बौद्ध दार्शनिक सम्यग् ज्ञान की परिभाषा संवादकत्व के या अविसंवादकत्व के आधार पर प्रस्तावित करते हैं। बौद्ध परम्परा में सम्यग् ज्ञान की दो परिभाषाएँ प्रस्तावित हैं अविसंवादकत्व तथा अज्ञातज्ञापकत्व। इन दोनों परिभाषाओं का मूल धर्मकीर्ति में तथा सांकेतिक रूप से दिङ्नाग में भी देखा जा सकता है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि ''माणमविसंवादि ज्ञानम्'' तथा बाद में आगे बढ़ते हुए ''ज्ञातार्थप्रकाशो व'' करके भी प्रमाण की परिभाषा प्रस्तावित करते हैं। इन दोनों परिभाषाओं के आलोक में यदि हम विचार करें तो प्रथमदृष्ट्या प्रतीत होता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य स्वीकार करना बौद्ध दार्शनिकों

के लिए आवश्यक होगा क्योंकि प्रत्यक्ष की ये दोनों ही परिभाषाएँ सविकल्पक प्रत्यक्ष पर भी लागू हो रही हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार्य इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि विभिन्न सविकल्पक प्रत्यक्षों के अविसंवादकत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। यह ध्येय है कि हम समस्त सविकल्पक प्रत्यक्षों का प्रामाण्य स्वीकार करने का तर्क प्रस्तावित नहीं कर रहे हैं। परन्तु केवल उन सविकल्पक प्रत्यक्षों के प्रामाण्य की बात कर रहे हैं जो कि अविसंवादक होते हैं। जब हम घट को घट समझकर घटानयन में प्रवृत्त होते हैं, या जल को जल समझकर पीने में प्रवृत्त होते हैं, तो हमारी प्रवृत्ति विसंवादी नहीं होती, निश्चय ही अविसंवादी या संवादी होती है। घट को घट समझकर घटानयन में प्रवृत्त होने पर हम घटानयन में सफल होते हैं, जल को जल समझकर पीने में प्रवृत्त होने पर हमारी प्यास बुझ जाती है। इस कारण इन ज्ञानों का अविसंवादकत्व तो स्वीकार्य होना ही चाहिए। ऐसा कतई नहीं कहा जा सकता है कि ये सविकल्पक प्रत्यक्ष अविसंवादक नहीं हैं। यदि अविसंवादक हैं तो इनका प्रामाण्य क्यों नहीं स्वीकार्य है? यदि द्वितीय परिभाषा अज्ञातार्थप्रकाशकत्व को विचारणार्थ लिया जाये, तो इस सविकल्पक प्रत्यक्ष में निश्चित ही पूर्व में अज्ञात कोई विषय आ रहा है जो कि उसके पूर्व में उत्पन्न स्वलक्षणमात्रग्राही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा विषय नहीं किया गया है। यदि सूक्ष्म अवलोकन किया जाये और बौद्ध परिकल्पना के दृष्टिकोण से देखा जाये, तो इन सविकल्पक प्रत्यक्षों के अज्ञातार्थप्रकाशकत्व से भी इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इन सविकल्पक प्रत्यक्षों के द्वारा कम से कम एक ऐसा विषय प्रकाशित किया जा रहा है जो कि उसके पूर्व में उत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा प्रकाशित नहीं किया गया था। वह विषय होगा सामान्यलक्षण। सामान्यलक्षण या सामान्य का विषयीकरण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं किया जाता, ऐसी सर्वमान्य बौद्ध मान्यता है। इस कारण सम्यग् ज्ञान की ये दोनों ही परिभाषाएँ सविकल्पक प्रत्यक्ष पर भी लागू हो रही हैं। फिर क्यों दिङ्नाग व धर्मकीर्ति के अनुयायी बौद्ध इन सविकल्पक प्रत्यक्षों का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दिङ्नाग व धर्मकीर्ति का तात्पर्य इन सविकल्पक प्रत्यक्षों के प्रामाण्य का निषेध करने का न रहा हो, अपितु इनके अनुमान से अतिरिक्त प्रामाण्य का निषेध करने का रहा हो? प्रमाणसमुच्चय की जिनेन्द्रबुद्धिकृत विशालामलवती टीका में, जो अंशतः ही

तिबेती भाषा से रूपान्तरित होकर संस्कृत में सुलभ है, में कहा गया है कि ''अवधारणार्थको हि शब्दः। स्वलक्षणविषयकं प्रत्यक्षमेव। सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव।''[२] यदि जिनेन्द्रबुद्धिकृत विशालामलवती टीका की इस पंक्ति के आलोक में देखा जाये तो यह प्रतीत होता है कि इस प्रमाणलक्षण से संगृहीत सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी अनुमान में ही अन्तर्भूत होना चाहिए क्योंकि यह पंक्ति सुस्पष्टतया कह रही है कि अनुमान का ही विषय सामान्यलक्षण होता है। इस सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय सामान्यलक्षण है इससे तो इनकार नहीं ही किया जा सकता। परन्तु इस सविकल्पक प्रत्यक्ष को अनुमान भी तो नहीं माना जा सकता। जैसा कि न्यायबिन्दुप्रदीप में दुर्वेक मिश्र प्रतिपादित करते हैं कि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष त्रिरूपलिङ्गज्ञान से जन्य नहीं है, इस कारण यह अनुमान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष में तो इसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष तो यह तब होता यदि यह कल्पनापोढ होता। परन्तु यह सविकल्पक प्रत्यक्ष तो कल्पना से रहित नहीं होता, नियम से कल्पनायुक्त ही होता है। फिर इसको किस प्रकार से हम प्रत्यक्ष या अनुमान इन दोनों प्रमाणों में अन्तर्भूत कर सकेंगे? विचित्रता यह है कि इस सविकल्पक प्रत्यक्ष पर प्रमाण की दोनों परिभाषाएं लागू हो रही हैं, परन्तु यह बौद्ध परम्परा में स्वीकार्य दो प्रमाणों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता। न तो हम इसको प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत कर सकते हैं और न ही अनुमान में। परन्तु प्रमाण मानने के लिए हमारे पास कोई अन्य विकल्प भी नहीं है। तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा माना जाये या न माना जाये? सिद्धान्त यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण न माना जाये। जिनेन्द्रबुद्धि की पंक्ति सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव का अभिप्राय प्रमाणम् पद का अध्याहार करके इसी रूप में लगाया जा सकता है कि केवल अनुमान प्रमाण ही ऐसा है जिसका विषय सामान्यलक्षण होता है। अन्य जो भी प्रमाण है उसका विषय सामान्यलक्षण न होकर स्वलक्षण होता है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने पर जो प्रश्न आता है वह तो अपनी जगह पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रश्न को हेतुबिन्दु में धर्मकीर्ति ने बहुत गम्भीरता से उठाया है तथा निर्धारित किया है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता। धर्मकीर्ति कहते हैं कि ''तत्र यदाद्यमसाधारणविषयं दर्शनं तदेव प्रमाणम्''[३] धर्मकीर्ति का आशय है कि प्रत्यक्ष की

जिस प्रक्रिया को नैयायिक बहुत सीधा व साधारण समझते हैं, वस्तुतः वह प्रक्रिया इतनी साधारण तथा सीधी नहीं है। ऐसा नहीं है कि निर्विकल्पक के बाद सीधा-सीधा सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जिसे हम सविकल्पक कह रहे हैं, उसके भी वस्तुतः कम से कम दो प्रभेद हैं। एक तो विधिविकल्प तथा द्वितीय प्रतिषेधविकल्प। इसी कारण अर्चट भट्ट धर्मकीर्ति की पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'तत्र' तेषु दर्शनविधिविकल्पप्रतिषेधविकल्पेषु[४]। स्वलक्षण ही वह असाधारण विषय है, जिसको कि प्रत्यक्ष विषय करता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में दो कार्य होते हैं, एक तो समानजातीय के रूप में उसका वर्गीकरण तथा असमानजातीय से व्यावृत्ति। समानजातीय के रूप में वर्गीकरण ही वस्तुतः विधिविकल्प है। असमानजातीय से व्यावर्तन ही प्रतिषेधविकल्प है। ये दोनों ही कार्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उपरान्त किये जाते हैं। धर्मकीर्ति का प्रश्न है कि इन दोनों में से किसके प्रामाण्य की बात की जा रही है? यदि विधिविकल्प के प्रामाण्य की बात की जाये तो वह भी संगत नहीं है, और यदि प्रतिषेधविकल्प के प्रामाण्य की बात की जाये तो वह भी असंगत है। विधिविकल्प के प्रामाण्य का प्रश्न उठ सकता है क्योंकि विधिविकल्प में सामान्यलक्षण विषय के रूप में आ रहा है, जो कि स्वलक्षण को विषय करनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा विषय नहीं किया गया है। इस कारण विधिविकल्प की अज्ञातार्थज्ञापकता सम्भव होती है। इसी प्रकार प्रतिषेधविकल्प के प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। धर्मकीर्ति प्रथमतया प्रतिषेधविकल्प के प्रामाण्य का निराकरण करते हैं। धर्मकीर्ति का सीधा-सीधा तर्क है कि स्वलक्षण को विषय करनेवाले प्राथमिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यथाभूत वस्तुस्वरूप के दृष्ट हो जाने के बाद प्रत्यक्ष के बल से उस स्वलक्षण की असाधारणता का अभिलपन करती हुई अतद्व्यावृत्ति को विषय करनेवाली स्मृति उत्पन्न होती है, वह यथादृष्ट आकार का ग्रहण करने के कारण प्रमाण नहीं है। प्रतिषेधविकल्प के द्वारा अतद्व्यावृत्ति का जो अभिलाप किया जा रहा है, वह वस्तुतः पूर्व में अनुभूत स्वलक्षणात्मक असाधारण का ही विषयीकरण किया जा रहा है। ध्येय है कि धर्मकीर्ति के अनुसार स्वलक्षण का तात्पर्य सजातीय विजातीय दोनों से व्यावृत्त असाधारण वस्तु से है। इस कारण प्रतिषेधविकल्प के द्वारा किसी अपूर्व अर्थ का अधिगम नहीं हो रहा है। फिर किस कारण उसे प्रमाण माना जाये? उसको प्रमाण मानने का तो

आधार ही नहीं बनता।[५] धर्मकीर्ति के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि यह प्रतिषेधविकल्प वस्तुतः स्मृतिरूप है। उसके द्वारा उसी अर्थ को विषय किया जा रहा है जो कि पूर्व के कल्पनापोढ प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा विषय किया गया है। स्मृतिरूप होने के कारण उसके प्रामाण्य का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि स्मृतिरूप होने के कारण इसमें अज्ञातार्थप्रकाशकत्व नहीं आता। दूसरी बात यह है कि इस प्रतिषेधविकल्प का वस्तुतः कोई विषय ही नहीं है, जो विषय है वह तो उधार का है, पूर्व में संजात कल्पनापोढ प्रत्यक्ष का है। इस कारण निर्विषयक इस प्रतिषेधविकल्प के प्रामाण्य का प्रश्न निराधार है। इसी युक्ति के आलोक में यह भी ध्यातव्य है कि इस प्रतिषेधविकल्प में वस्तुतः अविसंवादकत्व की भी बात नहीं की जा सकती। यदि अविसंवादकत्व होगा तो कल्पनापोढ प्रत्यक्ष का होगा, जो कि पूर्व में ही हो चुका।

विधिविकल्प के प्रामाण्य का प्रश्न हो सकता है क्योंकि उसके बारे में उपर्युक्त तर्क नहीं प्रस्तावित किये जा सकते। उसमें एक अंश कम से कम आ रहा है जिसके कारण हम यह नहीं कह सकते हैं कि उसमें अज्ञातार्थज्ञापकता नहीं है। उसमें विषय के रूप में आ रहा है सामान्यलक्षण। वह सामान्यलक्षण पूर्वोत्पन्न प्रत्यक्ष के द्वारा विषय नहीं किया गया है क्योंकि कल्पनापोढ प्रत्यक्ष का विषय तो निश्चित ही स्वलक्षण ही हो सकता है। सामान्यलक्षण तो उसका विषय हो ही नहीं सकता। इस कारण विधिविकल्प के प्रामाण्य का प्रश्न समुपस्थित होता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए धर्मकीर्ति का कथन है कि अर्थक्रियासाधन जो अर्थ है उसका तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा ही दर्शन हो चुका है। जो स्वलक्षण तत्त्व अर्थक्रियासाधन हुआ करता है, उसका विधिविकल्प के द्वारा ग्रहण नहीं हो रहा है। जिस अंश में विधिविकल्प की अज्ञातार्थज्ञापकता हुआ करती है, उस अंश का अर्थक्रियासाधनत्व ही नहीं है। यद्यपि अनुमान भी सामान्यलक्षण को ही विषय करता है, परन्तु उसका प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। इसमें यही विरोधाभास है, विचित्रता दिखती है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष उसी सामान्यलक्षण को विषय करता हुआ प्रमाण नहीं माना जाता। इस कारण अनुमान से इस सविकल्पक प्रत्यक्ष का अन्तर देखना आवश्यक होगा। धर्मकीर्ति का आशय है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष का अनुमान से बहुत ही मौलिक अन्तर है। अनुमान के द्वारा पूर्व में अज्ञात अर्थक्रियासाधन अर्थ की प्रतिपत्ति होती है,

इसके विपरीत सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थक्रियासाधन अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती।[६] इस धर्मकीर्ति की पंक्ति की व्याख्या करते हुए भट्ट अर्चट विधिविकल्प के विषय में स्पष्टीकरण देते हैं कि यह ठीक है कि विधिविकल्प के द्वारा ऐसे विषय सामान्यलक्षण का अधिगम हो रहा है, जो कि पूर्व में अधिगत नहीं है। परन्तु वह सामान्यलक्षण अर्थक्रियासाधन नहीं हुआ करता है। इस कारण उस सामान्यलक्षण को विषय करनेवाला विधिविकल्प तैमिरिक ज्ञान की तरह हो जाता है।[७] इस कारण विधिविकल्प प्रमाण नहीं है। तैमिरिक ज्ञान भ्रान्तिज्ञानविशेष है, उसके द्वारा अर्थक्रियासाधन नहीं होता। इस कारण उसको प्रमाण नहीं माना जाता। विधिविकल्प ठीक उसी प्रकार का है। उसके द्वारा भी जो वस्तु ज्ञात होती है वह वस्तुतः अर्थक्रियासाधन नहीं होती। परन्तु समस्या इतनी आसान नहीं है। क्या ठीक यही बात अनुमान के विषय में नहीं कही जा सकती। क्या अनुमान का विषय होनेवाला सामान्यलक्षण अर्थक्रियासाधन हो सकेगा? यदि नहीं तो अनुमान का प्रामाण्य किस प्रकार से माना जा सकता है? धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए अर्चट भट्ट बताते हैं कि अनुमान तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उस अन्तर को यदि ध्यान में न रखें तो सविकल्पक प्रत्यक्ष के भी प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित होगा ही। दोनों में अन्तर यह है कि अनुमान के स्थल में पर्वत में जब हम अग्नि का अनुमान कर रहे होते हैं, तो प्रत्यक्ष के द्वारा पर्वतादि प्रदेश का ग्रहण हमें हो जाता है। परन्तु अग्नि प्रत्यक्ष के द्वारा अनधिगत ही रहता है। वही अग्नि तो अर्थक्रियासाधन है। वह अभी अज्ञात ही रहा। उसके साथ समस्या यह है कि स्वलक्षणाकार से वहाँ पर अग्निप्रतिपत्ति अशक्य है क्योंकि वह परोक्ष है। इस प्रकार वहाँ पर सामान्याकार में अग्नि की प्रतिपत्ति अनुमान के द्वारा होती है। सामान्याकार से ऐसे अर्थक्रियासाधन (स्वलक्षण) की प्रतिपत्ति हो रही है, जो कि अभी तक अज्ञात है। इस कारण अनुमान के सामान्यलक्षणविषयक होने पर भी प्रामाण्य उपपन्न होता है। परन्तु विधिविकल्प की स्थिति इसके विपरीत है। विधिविकल्प के द्वारा सामान्याकार से जिस अर्थक्रियासाधन विषय (स्वलक्षण) की प्रतिपत्ति हो रही है, वह तो पूर्वोत्पन्न कल्पनापोढ प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञात हो चुका है। इस कारण वस्तुतः वह विधिविकल्प भी अर्थक्रियासाधन स्वलक्षण के विषयीकरण की अपेक्षा से स्मृति ही है।[८] इसी कारण धर्मकीर्ति

ने 'दर्शनाच्च' में 'च' शब्द का ग्रहण किया है।[८] धर्मकीर्ति का तात्पर्य यह है कि वस्तुतः कल्पनापोढ प्रत्यक्षोत्तरभावी विकल्पबुद्धि के द्वारा निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयीभूत वस्तु का ही अध्यवसाय होता है। परन्तु इस अंश में तो विकल्पबुद्धि का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि इस अंश में तो वह विकल्प बुद्धि स्मृतिरूप है। प्रश्न हो सकता है कि जाति तो अतिरिक्त विषय के रूप में, अनधिगत विषय के रूप में आ रही है, उस जाति अंश में विकल्प बुद्धि का प्रामाण्य क्यों न माना जाये? तो यह प्रश्न निश्चय ही विचारणीय है। इसके समाधान में धर्मकीर्ति के अनुयायियों का कथन है कि जाति का ज्ञान निश्चय ही अनधिगतार्थविषयक होकर आ रहा है, परन्तु केशोण्ड्रक ज्ञान की तरह यह सामान्य का ज्ञान होता है क्योंकि उस जाति के ज्ञान से कोई भी अर्थक्रिया नहीं होती।[१०] नील को निर्विकल्पक के द्वारा देखकर होनेवाले नील इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान के द्वारा कुछ विलक्षण नहीं किया जाता। ऐसा नहीं है कि स्वलक्षण की प्रतिपत्ति के उपरान्त उसी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बल से उत्पन्न विकल्प के द्वारा ग्राह्य सामान्य किसी प्रकार की कोई अर्थक्रिया करता हो। अर्थक्रिया में समर्थ केवल वह स्वलक्षण ही है न कि सामान्यलक्षण। सामान्यलक्षण किसी भी प्रकार की अर्थक्रिया में उपयुक्त नहीं होता।[११] अर्थक्रियासाधन स्वलक्षण तो पूर्वोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा दृष्ट ही हो चुका। उस नील स्वलक्षण ग्रहण के उत्तरकाल में होने वाले नीलविकल्प के विषय के द्वारा नीलसाध्य अर्थक्रिया नहीं होती।[१२] वह अर्थक्रिया तो वस्तुतः पूर्वोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय के द्वारा ही होती है। इस कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तो प्रामाण्य आवश्यक होने के कारण स्वीकार करते हैं, परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

परन्तु धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्ति के शिष्यों के ये तर्क कुछ गम्भीर विचार की आवश्यकता का संकेत देते हैं। निर्विकल्पक कल्पनापोढ प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के विषय में सवाल नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि वह अज्ञातार्थज्ञापक भी है तथा जिस अज्ञातार्थ का ज्ञापक है, उसी अर्थ का प्रापण करता हुआ अर्थक्रियासाधन भी बनता है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का साथ यह बात लागू नहीं होती। वह जिस नवीन अर्थ का ज्ञापन कर रहा है, उसमें अर्थक्रियासाधनता ही नहीं है और जिस अर्थ में अर्थक्रियासाधनता है, वह वस्तुतः उस विकल्प बुद्धि का विषय ही नहीं है। परन्तु इन परिस्थितियों में अनुमान

का प्रामाण्य क्या बौद्ध स्वीकार कर सकेंगे? इस प्रश्न के बहुत महत्त्वपूर्ण आधार बनते हैं। यह पूर्व में ही अनेक बार बताया जा चुका है कि अनुमान का विषय धर्मकीर्ति के अनुसार सामान्यलक्षण हुआ करता है। न केवल इतना ही अपितु अनुमान के द्वारा स्वलक्षण कभी भी विषय नहीं किया जा सकता। अनुमान का विषय सामान्यलक्षण ही होता है, वह कभी भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। निश्चित तौर पर समस्या आयेगी कि यदि अनुमान का विषय सामान्यलक्षण ही होता है, तो किस प्रकार से प्रमाण का लक्षण अविसंवादकत्व अनुमान पर लागू होगा? संवादकत्व या अविसंवादकत्व प्रदर्शित अर्थ का प्रापकत्व ही तो है, इससे अतिरिक्त नहीं। न्याबिन्दुप्रकरण पर टीका लिखते हुए धर्मोत्तर अविसंवादकत्व की व्याख्या करते हुए कहता है, ''लोके च पूर्वप्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते।''[१३] अब अनुमान के द्वारा प्रदर्शित अर्थ है सामान्यलक्षण। वह अनुमान के द्वारा प्रदर्शित सामान्यलक्षण तो प्राप्तियोग्य होता ही नहीं। फिर किस प्रकार से अनुमान का प्रामाण्य सम्भव होगा? यदि द्वितीय परिभाषा अज्ञातार्थज्ञापकता के आधार पर अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करें तो फिर प्रश्न उठेगा कि यदि अज्ञातार्थज्ञापकता के कारण अनुमान का प्रामाण्य आप मानते हैं तो सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी आपको स्वीकार्य होना चाहिए। दोनों को ही अज्ञातार्थज्ञापकता समान रूप है। सामान्यलक्षण विषय के आधार पर तो अनुमान तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष दोनों की ही अज्ञातार्थज्ञापकता समान ही है। इस समस्या का समाधान करने के लिए ''धर्मकीर्ति अनधिगतार्थविषयं प्रमाणम्'' इस प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगते स्वलक्षणे' इतना अधिक जोड़ने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। अनधिगतार्थविषयं प्रमाणम् का तात्पर्य अज्ञातार्थज्ञापकता से ही है। परन्तु अज्ञातार्थज्ञापकता को हम प्रमाण का लक्षण तभी मान सकते हैं, जब इसमें अनधिगते स्वलक्षणे इतने अंश को हम और जोड़ दें। अन्यथा यह परिभाषा दोषयुक्त हो जायेगी। इस अंश को जोड़ देने पर इस परिभाषा का तात्पर्य यह निकलता है कि स्वलक्षण के अनधिगत होने पर अनधिगतार्थविषयक ज्ञान को प्रमाण माना जायेगा। इस अंश के जोड़ देने पर यह परिभाषा अनुमान तो संगृहीत करती है परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष को संगृहीत नहीं करती। जब हम अनुमान के माध्यम से धूम के द्वारा अग्नि को जान रहे होते हैं, तो वहाँ पर अग्निस्वलक्षण अधिगत नहीं रहता। अनधिगत ही होता है। इस

कारण अनुमान नियमतः सामान्यलक्षण को विषय करने पर भी प्रमाण होता है। परन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उपरान्त जायमान सविकल्पक तो जन्म ही इस कारण ले पाता है क्योंकि उसके पूर्व में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा स्वलक्षण का ज्ञान सम्पन्न हुआ है। उसी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सामर्थ्य से उत्पन्न होनेवाला विकल्प वस्तुतः उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनुकरण रहा होता है, इस कारण वह वस्तुतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का कार्य होने के उसी के विषय को विषय करता हुआ प्रत्यक्ष न होकर स्मृति ही है। इस कारण वह प्रमाण नहीं है। इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सम्भव नहीं है।[१४] अनुमान की स्थिति अलग है। अनुमान का प्रामाण्य हमें स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि वहाँ पर अनुमान के द्वारा जब अग्निसामान्यलक्षण का ज्ञान हो रहा है, उस समय तक अग्निस्वलक्षण अज्ञात है, अनधिगत है। इस कारण अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार्य है। इसी कारण धर्मकीर्ति सविकल्पक का अनुमान एक अन्य भेद भी प्रस्तावित करते हैं कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में अनधिगत वस्तुरूप की अधिगति नहीं होती और प्रमाण की व्यवस्था वस्तु पर अधिष्ठित होती है।[१५] इसी कारण धर्मकीर्ति के अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थतः वस्तु है। सामान्यलक्षण अवस्तु है। जबकि प्रमाण की व्यवस्था वस्तु पर यानी स्वलक्षण पर निर्भर है। बार बार मेयमेकं स्वलक्षणम् का उद्घोष करने का कारण भी यही है, कि वस्तुतः धर्मकीर्ति के अनुसार केवल स्वलक्षण ही वस्तु है। सामान्यलक्षण तो हमारी कल्पना से उद्भूत होता है। लोगों की प्रवृत्ति अर्थक्रियायोग्य वस्तु के विषय में होती है, वह अर्थक्रियायोग्य वस्तु तो केवल स्वलक्षण है। इस कारण स्वलक्षण के आधार पर ही प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निर्धारण करना संगत है। सामान्यलक्षण किसी भी प्रकार से किसी ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्धारक नहीं हो सकता।

संक्षेप में धर्मकीर्ति की युक्तियों का आलोचन करने पर कुछ बिंदु उभरकर आते हैं। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में होनेवाले निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दोनों ही ज्ञानों में कुछ बहुत ही मौलिक भेद हैं। पहला यह कि निर्विकल्पक स्वलक्षण का प्रदर्शन करता है और स्वलक्षण ही अर्थक्रियासाधन होता है। इस कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य तो धर्मकीर्ति को स्वीकार्य है। इसके विपरीत निर्विकल्पक के उत्तरकाल में भावी सविकल्पक स्वलक्षण को ही स्मृति का विषय बनाता है, इसीलिए स्मृति होने के कारण निर्विकल्पक

प्रत्यक्ष के द्वारा प्रदर्शित स्वलक्षण में हम उसका प्रामाण्य नहीं स्वीकार कर सकते हैं। उसी स्वलक्षण की विषयता को लेकर सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की, अविसंवादकत्व की आपत्ति दी जा रही थी। अब यह निश्चित है कि मूलतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण को आधार बनाकर सविकल्पक प्रत्यक्ष के अविसंवादकत्व का आपादन नहीं किया जा सकता। इस कारण प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सविकल्पक प्रत्यक्ष पर लागू नहीं की जा सकती। उस सविकल्पक के द्वारा एक अनूठे विषय सामान्यलक्षण का भी विषयीकरण होता है। यह सामान्यलक्षण विकल्प के उत्पन्न न होने तक अज्ञात अर्थ है, पूर्वोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा उसका विषयीकरण या प्रकाशन नहीं किया गया है। परन्तु इस सामान्यलक्षण को विषय करने के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि प्रमाण की द्वितीय परिभाषा अज्ञातार्थप्रकाशकत्व या अनधिगतार्थविषयत्व इस सविकल्पक प्रत्यक्ष पर लागू होती है। क्योंकि यह परिभाषा अपने आपमें अपूर्ण है। इस परिभाषा में अनधिगते स्वलक्षणे इतना अंश और जोड़ना है। इस अंश के जुड़ जाने पर ही यह परिभाषा निर्दुष्ट हो सकती है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य के लिए धर्मकीर्ति एक अन्य युक्ति भी प्रस्तावित करते हैं। धर्मकीर्ति की युक्ति है कि प्रवृत्ति की प्रक्रिया पर विचार किया जाये तो सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अभिन्न योगक्षेम है।[१६] योग का तात्पर्य है अप्राप्त विषय की प्राप्ति तथा क्षेम का तात्पर्य है तदर्थक्रियानिष्ठान रूपी परिपालन।[१७] इन दोनों के परिप्रेक्ष्य में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सविकल्पक का कोई भेद नहीं है। इस कारण दोनों का प्रामाण्य स्वीकार करना अनुचित है। प्रवृत्ति का आधार स्वलक्षण ही है सामान्यलक्षण नहीं। सामान्यलक्षण की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं है। इस कारण प्रवृत्ति के आधार प्रामाण्य का निर्धारण अगर करना है तो स्वलक्षण ही प्रामाण्य का आधार होगा। ऐसी परिस्थिति में किसी ऐसे स्वलक्षण का विषयीकरण सविकल्पक के द्वारा किया नहीं जाता, और न ही सविकल्पक निर्विकल्पक के विषय स्वलक्षण से अतिरिक्त में प्रवर्तक ही होता है। जिसमें सविकल्पक प्रवर्तक होता है, वह निर्विकल्पक के द्वारा ही ज्ञात हो चुका है। यद्यपि विकल्प का विषय स्वलक्षण नहीं होता, इस कारण यह कथन असंगत प्रतीत होता है कि विकल्प का भी विषय वही है जो कि कल्पनापोढ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है। तथापि विकल्प

में स्वलक्षण का ही अध्यवाय होता है।[१८] अप्राप्त विषय की प्राप्ति के आधार पर विवेचन किया जाये तो सविकल्पक के द्वारा जो विषय प्राप्त होता है, वह सामान्यलक्षण तो प्राप्ति के अयोग्य है। इसी कारण तो सामान्य लक्षण को बहुधा अनर्थ कहा जाता है, अवस्तु कहा जाता है। क्षेम भी सविकल्पक का निर्विकल्पक के समान ही है क्योंकि आलोचनाज्ञान के द्वारा जिसमें प्रवृत्ति होती है, सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा भी तो उसी स्वलक्षण में ही प्रवृत्ति होती है।[१९] इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं हो सकता। अनुमान के साथ स्थिति भिन्न है। अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार्य है क्योंकि अनुमान के द्वारा अग्नि का ज्ञान होने पर अग्निविषयक जो अर्थक्रिया होती है, वह अर्थक्रिया किसी प्रत्यक्ष के द्वारा सम्पाद्य नहीं हो सकती। इसी कारण न्यायबिन्दु की टीका लिखते हुए धर्मोत्तर स्पष्ट करते हैं कि दो प्रकार के विकल्प होते हैं, एक तो लिंगज विकल्प दूसरा अलिंगज विकल्प। लिंगज विकल्प ही वस्तुतः अनुमान है। वह नियत अर्थ का प्रदर्शन करता है, वह अर्थ प्रापणयोग्य भी होता है। इसके विपरीत हरेक अलिंगज विकल्प नियामक को देखे विना ही प्रवृत्त होता है तथा भाव व अभाव से अनियत अर्थ को ही दिखलाता है। जो कि नितान्त अप्रापणीय है।[२०] इस कारण अलिंगज विकल्प का प्रामाण्य सम्भव नहीं होता। इसके विपरीत लिंगज विकल्प यानी अनुमान का प्रामाण्य सम्भव होता है क्योंकि अनुमान के द्वारा जिस समय सामान्यलक्षणात्मक अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, उस समय स्वलक्षण ज्ञात नहीं रहता, अधिगत नहीं रहता। इसी प्रकार उस अनुमान के द्वारा अध्यवसेय स्वलक्षण की प्राप्ति भी ज्ञानोपरान्त सम्भव होती है। इसके विपरीत सविकल्पक के द्वारा जो अर्थप्राप्ति होती है, उसका जिम्मेदार वस्तुतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। संक्षेप में बौद्ध दार्शनिकों के तर्कों को धर्मोत्तर की व्याख्याओं के आलोक में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी भी प्रमाण का प्रामाण्य वस्तुतः स्वलक्षण पर ही निर्भर है। वह स्वलक्षण प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों का विषय हुआ करता है। प्रत्यक्ष का वह ग्राह्य विषय है, जबकि अनुमान का वह अध्यवसेय विषय है। प्रत्यक्ष का प्रामाण्य प्रत्यक्ष के ग्राह्य विषय स्वलक्षणविषयक अर्थक्रिया के आधार पर हुआ करता है, जबकि अनुमान का प्रामाण्य अनुमान के अध्यवसेय विषय स्वलक्षणविषयक अर्थक्रिया के आधार पर सम्भव होता है। प्रत्यक्ष के अध्यवसेय विषय सामान्यलक्षण में अर्थक्रियासाधनता नहीं होती और न तो अनुमान के

ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण में ही वह होती है। सविकल्पक प्रत्यक्ष के साथ समस्या यह है कि उसके दो प्रकार के विषय नहीं सम्भव हैं। उसका विषय एक प्रकार का ही सम्भव है, जो कि सामान्यलक्षण है। जिस स्वलक्षण का अनुकारी वह सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उस स्वलक्षण की अर्थक्रियासाधनता का लाभ वह सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं उठा सकता क्योंकि यह तो उधार की अर्थक्रियासाधनता होगी। इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष के अविसंवादकत्व की बात नहीं की जा सकती। वह स्वलक्षण तो पूर्वोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा ही प्रकाशित कर दिया गया। अतः उसके आधार पर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ही अविसंवादकत्व हो सकता है। अनुमान के स्थल में जो स्वलक्षण अध्यवसेय होता है, वह महानसादि में अनुभूत अग्नि स्वलक्षण से अतिरिक्त होता है, वह अनधिगत होता है। तथा उसी स्वलक्षण को आधार बनाकर अनुमान का अर्थक्रियासाधनत्व सम्भव होता है। इस तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष में न तो प्रमाण की प्रथम परिभाषा अविसंवादकत्व लागू होती है और न ही द्वितीय परिभाषा अज्ञातार्थज्ञापकत्व ही। इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की अस्वीकृति युक्तिसंगत दिखती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दार्शनिक ठीक उन्हीं कारणों से सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते हैं, जिन कारणों से नैयायिक स्मृति का प्रामाण्य नहीं मानते।

आचार्य, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी–

१. निर्विकल्पकं तु भ्रमप्रमाबहिर्भूतं व्यवहारानंगत्वात्। तत्त्वचिन्तामणि निर्विकल्पकप्रत्यक्षवाद

२. पृ.६, प्रमाणसमुच्चय विशालामलवती टीका, सम्पादित एवं तिब्बती से पुनर्रचित एच आर रामास्वामी अयंगार, मैसूर, १९३०

३. हेतुबिन्दु, पृ.१८८, धर्मकीर्तिप्रणीति न्यायबिन्दुप्रकरण, अर्चट भट्ट कृत हेतुबिन्दुटीका, दुर्वेक मिश्र कृत हेतुबिन्दुटीकालोक, बृजकिशोरमिश्र कृत दृष्टिहिन्दीटीका सहित, सम्पादक बृजकिशोर त्रिपाठी,सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०१०

४. वहीं पृ.१८८

५. तस्मिन् तथाभूते दृष्टे सति तदसाधारणतामभिलपन्ती अतद्व्यावृत्तिविषया स्मृतिरुत्पन्ना प्रत्यक्षबलेन न प्रमाणम् यथादृष्टाकारग्रहणात्। प्रागसाधारणं दृष्ट्वा असाधारणमभिलपतः (प्रतिषेधविकल्पस्य) अपूर्वार्थाधिगमाभावात। वहीं पृ.१९०

६. अर्थक्रियासाधनस्य आलोचनाज्ञानेन दर्शनाच्च। अदृष्टस्य पुनस्तत्साधनस्य (विधि) विकल्पेनाप्रतिपत्तेरनुमानवत्। वहीं, पृ.१६८

७. यद्यपि तेनानधिगतं सामान्यमधिगम्यत इति वर्ण्यते तथापि तद् अर्थक्रियासाधनं न भवति इति तदधिगन्ता तैमिरिकादिज्ञानप्रख्यो विधिविकल्पो न प्रमाणम्। हेतुबिन्दुटीका, पृ. १६६

८. यथा प्रत्यक्षेणार्थक्रियासाधने प्रदेशाख्ये धर्मिण्यधिगतेऽप्यनधिगतमर्थक्रियासाधनमधिगम्यते, तस्यालोचनज्ञाने-नैवाधिगमात्। तस्मात् स्मृतिरेवासाविति न प्रमाणमिति। वहीं पृ.२०१

९. 'च'कारेण स्मृतित्वाच्चेति पूर्वोक्तकारणसमुच्चयः। वहीं पृ.२०१

१०. जातेस्त्वर्थक्रियासाधनत्वाभावादनधिगताया अधिगमेपि केशादिज्ञानस्येव न प्रामाण्यम्। वहीं, पृ.२००-१

११. न च सामान्यं स्वलक्षणप्रतिपत्तेरूर्ध्वं तत्सामर्थ्योत्पन्नविकल्पविज्ञानग्राह्यं कांचिदर्थक्रियामुपकल्पयति। यथा नीलं दृष्ट्वा नीलमिति ज्ञाने। तदेव हि नीलस्वलक्षणं तथाविधसाध्यार्थक्रियाकारि। हेतुबिन्दु, पृ.२०५

१२. तच्च तेनात्मना दृष्टमेव। न च तत्स्वलक्षणग्रहणोत्तरकालभाविनो विकल्पस्य विषयेण नीलसाध्यार्थक्रिया क्रियते। पृ.२२८ हेतुबिन्दु

१३. न्यायबिन्दुटीका, पृ. १०, धर्मकीर्तिप्रणीत न्यायबिन्दुप्रकरण, विनीतदेवकृतविस्तर, धर्मोत्तरप्रणीत न्यायबिन्दुटीका, अज्ञातकर्तृकटिप्पणी सहित, सम्पादक द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १६६४

१४. तस्माद् 'अनधिगतार्थविषयं प्रमाणम्' इत्यपि 'अनधिगते स्वलक्षणे' इति विशेषणीयम्।
अधिगते तु स्वलक्षणे तत्सामर्थ्यजन्मा विकल्पस्तदनुकारी कार्यतस्तद्विषयत्वात् स्मृतिरेव, न प्रमाणम्। हेतुबिन्दु, पृ.२३०

१५. अनधिगतवस्तुरूपस्यानधिगतेः। वस्त्वधिष्ठानत्वात् प्रमाणव्यवस्थायाः। पृ.२३५-७

१६. प्रवृत्तौ प्रत्यक्षेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात्। हेतुबिन्दु, पृ.२४३

१७. योगः अप्राप्तस्य विषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः, क्षेमः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम्। हेतुबिन्दुटीका पृ.२४३

१८. तत्र विकल्पस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षेणाभिन्नो योगः स्वलक्षणाध्यवसायतः। पृ.२४४

१९. अभिन्नः क्षेम आलोचनाविज्ञानादिव विकल्पादपि स्वलक्षण एव प्रवृत्तेः। वहीं

२०. सर्वेण चालिंगजेन विकल्पेन नियामकदृष्ट्या प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः। स च प्रापयितुमशक्यः। न्यायबिन्दु टीका पृ.१२

श्री अरविन्द दर्शन की तार्किक पृष्ठभूमि

श्रीप्रकाश पाण्डेय

भारतीय दार्शनिक परम्परा जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु जिस योग चतुष्ट्य (ज्ञान, भक्ति, कर्म एवं राज) की चर्चा करती है वह प्रवृत्ति मार्गी कम निवृत्ति मार्गी अधिक है, जबकि जीवन प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का समयोग है। मनुष्य का जीवन देश-काल निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसलिए किसी निरपेक्ष का विचार एवं व्यवहार उसके लिए असहज नहीं तो कठिन अवश्य है। मनुष्य मूलतः रागी है, विरागी है; वैरागी नहीं। रागी होने के कारण वह रसिक है। उसे रूप और रंग अच्छे लगते हैं। उसके लिए सांसारिक विविधता प्रकृति का शृंगार है कारण कि वह इस विविधता के रंग का रसिया है। इसी में वह रसराज, रसेश्वर को ढूँढता है एवं उसके प्रेम रस का पान करते हुए, अमृत रस का पान करते हुए "रसो वै सः" की अनुभूति करना चाहता है। वह निराकार को साकार, निर्गुण को सगुण, असीम को ससीम एवं आदर्श को व्यवहार में देखना चाहता है साथ ही साकार को निराकार सगुण को निर्गुण, ससीम को असीम, एवं व्यवहार को आदर्श में अनुभूत भी करना चाहता है। इस तरह वह व्यवहार एवं परमार्थ, जगत् एवं ईश्वर तथा पार्थिव प्रकृति (माया) एवं ईश्वर के भेद को मिटाना भी चाहता है। वह जगत् में ईश्वर एवं ईश्वर में जगत् को अनुभूत करना चाहता है (तदैच्छत् एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेयेति -छान्दोग्य, ६.२.३)। वह इन प्रतीयमान विरोधों में नहीं रहना चाहता, इनका उपयोग करना चाहता है, इनकी परिभाषा बनाना चाहता है, इसे भाषा एवं भाव का रूप देना चाहता है। वह मरना नहीं चाहता, अमरता के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इसीलिए वह असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर एवं मृत्यु से अमृतत्त्व

की ओर जाने के लिए जिस अव्यक्त परमात्मा की प्रार्थना करता है उसे व्यक्त रुप लेकर इस धरा पर आना पड़ता है, उस तुरीय को स्थूल जगत् में उतरना पड़ता है, आकाश के भगवान को धरा पर मानव-रूप में आना होता है - मानव कल्याण के लिए, सनातन धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए (सम्भवामि युगे युगे)। उसका शुभावतरण होता है रस में डुबोने के लिए, भाव में सिंचित् करने के लिए, ज्ञान में सुप्रतिष्ठित करने के लिए, भक्ति में रूलाने, आनन्द में हँसाने, प्रेम में नचाने एवं लोकसंग्रह में अनुप्रेरित करने के लिए। इसीलिए हमें जीवन जीने की कला, भावपूर्ण संगीत का लय एवं लक्ष्य का सूत्र राग में ढूँढना होगा, विराग में ढूँना होगा, वैराग्य में नहीं। स्वीकार में ढूँढना होगा, निषेध में नहीं। सत्याऽनृते मिथुनीकृत जगत् में ढूँढना होगा उससे परे नहीं; 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के विरोध में नहीं 'वासुदेवः सर्वमिति' में ढूँढना होगा। ऐसे में जहाँ सबकुछ आनन्द से उद्भूत, परिपोषित एवं उसी में लीन हो जाता है, कारण कि यह सब कुछ वासुदेव की सत्य लीला का विलास है एवं इस लीला के प्रत्येक चरित्र विग्रह उसी के सत्य रूप हैं। इसलिए इस पार्थिव जगत् में प्राण और मन एक सत्ता की, एक चेतना की, एक शक्ति की, एक आनन्द की कहानी हैं जो भौतिक द्रव्य के प्रतीयमान निश्चेतन (अन्नं ब्रह्मेतिव्यजानात्)[1] के अन्धकार में बंदी हैं किन्तु ऐसा रहने के लिए अभिशप्त नहीं हैं। ये मुक्ति (दिव्य जीवन) के लिए संघर्ष कर रहे हैं क्योंकि इनकी प्रकृति में है - ईश्वर की दिव्य लीला में भाग लेते रहना, उसे ढूँढ निकालना तथा 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करते हुए अन्ततः वही हो जाना जो वह था, है और सदा रहेगा।

वस्तुतः मानवीय वैचारिकी की इस प्रक्रिया, प्रारूप एवं लक्ष्य के कारण भारतीय दर्शन में चिन्तन की दो सशक्त धारायें समानान्तर रूप से विकसित हुईं - प्रथम, भौतिकवादी एवं द्वितीय आध्यात्मवादी। भौतिकवादी विचारधारा भौतिक तत्त्वों की स्वीकृति, उनकी श्रेष्ठता एवं उनसे ही सम्बद्ध कर जगत् की उत्पत्ति आदि की व्याख्या करती है। इस विचारधारा का आदर्श भौतिक विज्ञान वस्तुओं का अन्वेषण नीचे से ऊपर की ओर करता है किन्तु वह भूल जाता है कि वस्तुओं का सत्य उनकी गहराई, उनके केन्द्र में और यहाँ तक कि उनके शिखर पर भी होता है; ऐसे ही चेतना का सत्य भी उसके शिखर पर, उसकी गहराई एवं उसके केन्द्र में पाया जा सकता है। भौतिक पदार्थ में हमारी

अन्वेषिता इस कारण भी दूषित हो सकती है कि भौतिक पदार्थ में चेतना समाधि में रहती है और हमारी जाँच-पड़ताल का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं देती। सजीव भौतिक में जो अभी तक मानसिक नहीं बना है, अभी तक अवचेतन है वह कभी-कभी उत्तर तो देता है परन्तु ऐसा जिसे हम समझ नहीं पाते हैं। पशु मानस के अन्दर चेतना निश्चेतन जड़ पदार्थ की आद्य समाधि में से विकसित अर्द्धजाग्रत चेतना है। मनुष्य में भी वह आद्य अविद्या से शुरू होती है जहाँ उसकी अभिव्यक्तियाँ, सामग्री, गतिविधि ज्ञान के लिए कुछ टटोलना है। हम केवल उसी से नहीं समझ सकते कि चेतना क्या है? उसकी सीमाएँ एवं सम्भावनाएँ क्या हैं? तब हम यह कैसे जानें कि चेतना का कोई शिखर या उसका कोई आन्तरिक केन्द्र भी है, जो वस्तुओं की सतह पर दिखलायी नहीं देता है। इस दृष्टि से जड़ पदार्थ से सम्पूर्ण चेतन जगत् की व्याख्या का वैज्ञानिक प्रयास सार्थक किन्तु एकांगी है।

दूसरी विचारधारा आध्यात्मवादी है जो एकमेव चेतन तत्त्व की स्वीकृति, उसकी श्रेष्ठता, एवं उससे ही या उससे सम्बद्ध कर जगत् की व्याख्या का प्रयास करती है। यह मानती है कि चेतना वस्तुओं या तथ्यों का ऐसा ढेर नहीं है जिसे प्रत्यक्ष दर्शन, कल्पना और मानव बृद्धि के सापेक्ष तर्क द्वारा स्पष्ट, वर्गीकृत और व्यवस्थित किया जाय। ये सभी अपूर्ण यंत्र की चीजें हैं इसलिए जो व्यवस्था करती हैं वह अस्थायी, एकांगी, केवल अर्द्धसत्य या उससे भी कम सत्य होता है, अपने स्वभाव का सत्य न होकर बना हुआ प्रतिरूप होता है। अतः चेतना कोई भौतिक या अवचेतन रहस्य या संयोगवश या अस्थायी संयोग नहीं है। 'यह वह चैतन्य (ब्रह्म) है जो वस्तुओं के आरम्भ से पहले था और वस्तुओं के अन्त के बाद भी रहेगा।'[२] जिसे उपनिषदों ने कहा कि यह वह आत्मा है जो सत् या असत् था, जिसने अपने अन्दर जगत् सृष्टि देखी या उसी असत् से, शाश्वत सत् से ऐहिक सत्ता ने जन्म लिया। देश-काल रहित शाश्वत को अपने अन्दर देश-काल की कल्पना करने या उसे बन्द कर देने से कौन रोक सकता है? 'लेकिन जगत् का बाहरी रूप, रंग इस गुह्य सत्य का खण्डन करता है। हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ, हमारे सामने जितने तथ्य रखते हैं वे सब इस सत्य से इंकार करते हैं, इस आनुभविक आधार पर कि यह संसार के दुःख, कष्टों के साथ असंगत है। यह

जीवित प्राणियों और वस्तुओं की अपरिवर्तनशील निश्चेतना के साथ मेल नहीं खाता। हमारी चेतना की सतह पर और हमारे चारों ओर केवल ऐहिक एवं क्षणभंगुर सीमित एवं सान्त वस्तुएँ ही हैं। जो हमें बड़ा दीखता है उसकी भी सीमा है। हम जिसके स्थायी होने के सपने देखते थे उसका अन्त आ जाता है। यह विशाल विश्व जो अनन्त में विस्तृत होता हुआ दीखता है आखिर वह भी सीमाहीन साान्त में बंदी है।'[३] ऐसा क्यों है? यह विरोधाभास क्यों है? क्या सत् वस्तुतः द्वन्द्वाभासी, विरोधाभासी ही है या काल्पनिक अथवा आरोपित? इसी समस्या के समाधानार्थ भारतीय चैतन्यवादी आध्यात्मिक परम्परा में 'मायावाद' के सिद्धान्त का प्रवेश ही नहीं तार्किक प्रयोग भी हुआ है - मुख्यतः वेदान्त की परम्परा में। सम्वृत्ति सत् को मानते हुए भी नागार्जुन जिस मायावाद की 'असत् शास्त्रं' कहकर आलोचना करता है, उस मायावाद का शंकर प्रभृति वेदान्ती आचार्यों ने वेदान्त की स्थापना में तीक्ष्ण तर्क के रूप में प्रयोग किया है। श्री अरविन्द ने भी 'दिव्यजीवन' में उसकी विशद् चर्चा की है लेकिन शंकर से भिन्न। एतदर्थ शंकर के मायावाद एवं तत्प्रसंग में श्री अरविन्द के विचारों की किंचित् चर्चा यहाँ अवश्य अपेक्षित है।

सिद्धान्ततः 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनाऽपरः' (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव एवं ब्रह्म में अभेद है) एवं 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है) आदि वाक्यों में 'जीवोब्रह्मैवनाऽपरः' एवं 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के रूप में अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसीय प्रतिष्ठा है, जिसका सम्बन्ध सत्- ऐसी सत्ता से है जो प्रमाण निरपेक्ष, स्वयंप्रकाश स्वयंसिद्ध एवं पारमार्थिक है तथा 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या के रूप में ज्ञानमीमांसीय प्रतिष्ठा से है जिसका सम्बन्ध सत्य, प्रमाण सापेक्ष एवं व्यवहार से है; कारण कि शंकर को मति, श्रुति एवं अनुभूति तीनों प्रमाण रूप में स्वीकार्य हैं इस मान्यता के साथ कि आत्मा या ब्रह्म सभी प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार का आश्रय होने के कारण सबसे पूर्व है। अतः शंकर जब ब्रह्म जिज्ञासा की बात करते हैं तो वह ब्रह्म की नहीं अपितु ब्रह्म विषयक जिज्ञासा की बात करते हैं, यह जानते हुए भी कि विषय के साथ विषयी का प्रश्न अनिवार्यतः उत्थापित होगा। गोया कि सिद्धान्ततः शंकर को द्वैतप्रपंच मान्य नहीं है। वह ब्रह्म से प्रतीयमान जगत् को सम्बद्ध कर माया के माध्यम से जगत्

की व्याख्या तो करते हैं किन्तु अन्ततः जगत् की यथार्थता स्वीकार करने की बजाय उसे मिथ्या घोषित करते हैं। इतना ही नहीं शंकर जिस मायावादी नाव के सहारे ब्रह्म-जगत् सम्बन्ध की तार्किक सरिता पार करते हैं अन्ततः उस माया को भी मिथ्या घोषित कर देते हैं।

वस्तुतः वेद, उपनिषद्, गीता एवं तंत्र तथा विकासवाद की पृष्ठभूमि पर आधारित श्री अरविन्द के चिन्तन में ऐसी अद्वैत वेदान्तीय प्रतिस्थापनाओं की संवीक्षा दृष्टिगोचर होती है। श्री अरविन्द शंकर मतावलम्बियों से पूछते हैं कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है तब यह जगत् ब्रह्म से बाह्य क्यों? ब्रह्म यदि सत्य है तो उससे अबाह्य यह जगत् मिथ्या क्यों? यदि जिसके जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति) सत्य है, तो उसके जान लेने पर सब मिथ्या एवं रहस्य क्यों और कैसे हो जाता है? इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व ही वह चीज है जिससे हमारी समस्त चेतन अनुभूतियाँ शुरू होती हैं। संभवन की एक सतत् धारा है, परिवर्तन एवं विकारों का एक चक्र है जो आकारों एवं सम्बन्धों की राशि है। प्रश्न यह है कि वह कौन सी चीज है जो अस्थायी को स्थायित्व का, अस्थिर को स्थिरता का, परिवर्तन को शाश्वतता का ऐसा आभास देती है जिसके सभी तत्त्व सदा अस्थिर और अपरिवर्तनशील रहते हैं? बौद्धों के यहाँ तो यह चेतना की क्रिया द्वारा विज्ञान और संस्कार द्वारा होता है परन्तु ये सभी अपने आप में अस्थायी हैं। इसके विपरीत मायावादी कहता है कि यह वह चेतना है जो वास्तव में निर्विकार, अपरिवर्तनशील एवं स्वयंभू है। उससे विकार एवं परिवर्तन का प्रपंच उद्भूत होता है। श्री अरविन्द कहते हैं यह कैसे सम्भव है? वेदान्तीय दृष्टि से तो यह असंगत ही नहीं परस्पर विरोधी भी है। इसी से बचने के लिए तो वेदान्ती यह कहता है कि समस्त जगत् प्रपंच भ्रान्ति या माया है, अवास्तविक है, असत् रूप से सत् है। श्री अरविन्द का मानना है कि अद्वैत वेदान्तीय मायावाद का सिद्धान्त तो अस्तित्व की समस्या को सदा के लिए असमाधेय बना देता है। यह जगत् में हमारे सभी अनुभवों को अयथार्थ या भ्रम मानता है परन्तु यदि जगत् में जीव के समस्त अनुभव भ्रम हैं तो क्या उसके आध्यात्मिक अनुभव भ्रम नहीं हैं? ऐसी स्थिति में परमतत्त्व का अनुभव भी तो भ्रम हो सकता है, क्योंकि निषेध की प्रक्रिया यहाँ रूक नहीं सकती है।

अतः मायावाद का परिणाम यह होता है कि हमारी सत्ता, हमारे अनुभव एवं प्रयास अपना अर्थ खो बैठते हैं। किन्तु सम्भवन के इस जगत् में देहधारी जीव के लिए उसके आत्मा के इस जगत् को छोड़कर पलायन कर जाने में कोई पर्याप्त विजय नहीं है।[४] इसलिए श्री अरविन्द जगत् मिथ्यात्व की सिद्धि हेतु शंकर प्रदत्त स्वप्न, परिवर्तन एवं अपभ्रम पर आधारित युक्तियों की संवीक्षा कर यह स्पष्ट करते हैं कि इनमें से किसी एक से या समवेत रूप से भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। वह कहते हैं कि स्वप्न भ्रम नहीं है, यह चेतना की एक अवस्था है। यह भी हो सकता है कि चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हों और उनमें से प्रत्येक अपनी स्वतंत्र यथार्थताएँ रखती हों। किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि जिस अवस्था में हम अब आये हैं वह यथार्थ है और जिसे पीछे छोड़ आये हैं वह मिथ्या है।[५] जाग्रत एवं स्वप्न ये अपनी अलग-अलग यथार्थताएँ रखते हैं, इनके अपने-अपने अनुभव हैं। इनमें किसी के आधार पर किसी को मिथ्या कहना उचित नहीं है। इसी प्रकार समग्र रूप में देखने पर विश्व की क्षणिकता का भी हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता कारण कि जो अनन्त ऊर्जा विश्व की सृष्टि करती है क्या उसका या उसके कर्म का आदि या अन्त है? जहाँ तक अपभ्रम का प्रश्न है यह मानसिक (मरू-मरीचिका) एवं चाक्षुष (रज्जू-सर्प) दो प्रकार का होता है, किन्तु प्रत्येक अपभ्रम में जो गलत पदार्थ का प्रतिरूप है वह किसी ऐसे पदार्थ का प्रतिरूप नहीं है जो मिथ्या है, असत् है। वह ऐसे सत् पदार्थ का प्रतिरूप है जिसे मन या इन्द्रियों ने जिस स्थान पर आरोपित किया है वहाँ वह नहीं है, कहीं अन्यत्र है।[६] 'अतः मिथ्या ज्ञान का मूल कारण है सामने दिखायी देने वाले यथार्थ पदार्थ के रूप के साथ दूसरे स्थान पर पहले से ज्ञात दूसरे यथार्थ पदार्थ के रूप का सादृश्य।'[७] यह उपमा तब युक्तिसंगत होती जब जगत् का जो अनुभव हम रखते हैं वह किसी ऐसे सच्चे जगत् का प्रतिरूप होता जो कि अन्यत्र है। परन्तु यहाँ मायावाद में तो जगत् पदार्थों का अस्तित्व रहित रूप है एक भ्रान्त रचना है।[८] अतः यह उपमा विश्व के मिथ्यात्व को सिद्ध नहीं करती। वास्तविकता तो यह है कि समस्त मानसिक विपर्यय एवं भ्रम अज्ञान के परिणाम हैं। मन शून्य से किसी पदार्थ की रचना नहीं कर सकता। अज्ञान ज्ञान की ही सामग्री से मिथ्या रचना करता है, उन्हें गलत ढंग से संयुक्त करता है। अस्तु, भ्रम

का कारण अज्ञान मानने के बावजूद जहाँ शंकरानुयायी मानते हैं कि भ्रम केवल एक स्मृति प्रतिबिम्ब ही नहीं है अपितु यह स्मृति से सर्वथा पृथक् एक नयी सष्टि है वहाँ श्री अरविन्द इसे एक बाह्य पदार्थ पर यथार्थ स्मृति प्रतिबिम्ब को आरोपित मानते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, अतः ब्रह्म से इतर अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। 'नाम-रूप विलुप्त हो सकता है किन्तु इसका तात्पर्य मात्र व्यक्त अवस्था से अव्यक्त अवस्था में चला जाना है। केवल नित्य ही यथार्थ है यह हमारी शुद्ध बौद्धिक अवधारणा है। स्वल्पकालीन और नित्य, कालगत और कालरहित का भेद केवल हमारे विचार का बनाया हुआ है'।[६] 'समस्त अस्तित्व चाहे उसका रंग-रूप, उसकी सत्ता की प्रक्रिया कैसी भी क्यों न हो अपने द्रव्य, स्रोत, ऊर्जा एवं सत्य में एक ही आत्मा है। वही आत्मा सबका आदि, मध्य एवं अन्त है। 'वह स्वयं शाश्वत्, स्वयंभू एवं अनन्त है; आदि - अन्त से परे, काल से परे, रूप-गुण एवं परिवर्तनों से परे होते हुए भी सत्य में अवस्थित वह आधारभूत यथार्थता है जो हमारे ज्ञान से छिपा है। वह एक मात्र सत्य है जिस पर अर्धसत्य क्या सभी सत्य आश्रित हैं; वे भी जो इनका समर्थन करते हैं और वे भी जो इनका खण्डन करते हैं'।[१०] 'समस्त काल शाश्वत में गति करता है, समस्त देश अनन्त में फैला हुआ है। सभी प्राणी, सम्पूर्ण सृष्टि उसी आधार पर जीते हैं जो उनके अन्दर भगवान रूप में अवस्थित हैं। 'यह आन्तरिक आध्यात्म के बारे में तो सच है ही परन्तु अन्त में वाह्य देश और काल के बारे में भी सच ही सिद्ध होता है'।[११] एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस सारी खोज में हम स्वयं अपने से परे नहीं जा सकते। इसलिए ज्यादा अच्छा है कि हम अपने अन्दर देखें, हम अपने को बाहरी साक्ष्य की प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित क्यों रखें। तर्कतः भी यदि केवल ब्रह्म ही सत् है तो यह सब ब्रह्म ही होना चाहिए, जगत् को भी उस परमार्थ तत्त्व से पृथक् नहीं होना चाहिए। अतः 'सच्चा अद्वैत वह है जो समस्त पदार्थों को एकतम ब्रह्म मानता है और उसकी सत्ता को दो असम्बद्ध तत्त्वों - नित्यसत्य एवं नित्यमिथ्यात्व, ब्रह्म एवं अब्रह्म, आत्मा एवं अनात्मा (जड़) में विभक्त नहीं करता। यदि यह सत्य है कि केवल आत्मा ही अस्तित्व रखता है तो यह भी सत्य होना चाहिए कि यह सब आत्मा ही है'[१२] (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)। अस्तु श्री अरविन्द को भी अद्वैत ही स्वीकार है किन्तु शंकर का अद्वैत नहीं। उन्हें समग्र

अद्वैत स्वीकार है - ऐसा अद्वैत जो सत्ता के समस्त पक्षों को अपने भीतर समाविष्ट करता है।

इस प्रकार श्री अरविन्द का समग्र अद्वैतवाद जिस तार्किक पृष्ठभूमि पर अपनी दार्शनिक प्रतिष्ठापना करता है उसके तीन आधार स्तम्भ हैं - सत्ता का समग्र स्वरूप, समग्र ज्ञान (अनन्त का तर्क) एवं विकासवाद।

श्री अरविन्द की दृष्टि में समस्त सत्ता अनन्त और शाश्वत की सत्ता है, भगवान की, अनिर्वचनीय की सत्ता है - काल में स्थित सत्, शाश्वत में स्थित सत्, सान्त में सत् और उतना ही अनन्त में सत्, बहु की और उतनी ही एक की, सगुण की और उतनी ही निर्गुण की, जितनी व्यष्टि की उतनी ही विश्व की और विश्वातीत की भी। सापेक्ष की भी उतनी ही जितनी निरपेक्ष की सत्ता है (एकमेवाद्वितीयब्रह्म)। यह शाश्वत अपनी सत्ता के सत्य में सत्, चित् एवं आनन्द है। ये तीन नहीं त्र्येक हैं। अभिव्यक्ति की लीला में ही इनमें भेद किया जा सकता है। हमें जो असत् दीखता है वह ऐसा सत् है जो उस सत् से भिन्न है जिसे हम जानते हैं।[१३] जो हमें निश्चेतना दीखती है वह केवल अवगुण्ठित, आवेष्ठित या ऐसी चेतना है जहाँ तक हमारे मन या इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। जो चीजें हमें कष्टप्रद या दुखद दीखती हैं वह केवल अपने से उल्टा हुई आनन्दमयी सत्ता का परम उल्लास है। अज्ञान में और अज्ञान के कारण ये विरोध वास्तविक एवं यथार्थ प्रतीत होते हैं लेकिन सत्य चेतना के लिए ये केवल प्रतीयमान सत् हैं, सत्ता के सत्य नहीं। शाश्वत और अनंत से परे कुछ भी नहीं है। समस्त स्वीकार या निषेध उसकी पृष्ठभूमि पर ही सम्भव है। अस्तु, यदि हम असत् को सत् के निषेध के रूप में ग्रहण न कर सत् के ऐसे रूप में ग्रहण करें जो हमारे समस्त बुद्धि विकल्पों का अतिक्रमण करता है तब सत् एवं असत् का बाह्य विरोध स्वतः समाप्त हो जायेगा और यह दृष्टि भी विकसित हो जायेगी कि हर एक अपने सान्त रूपप्रपंच में अनन्त है। प्रश्न यह है कि यह दृष्टि कैसे विकसित होगी?

वस्तुतः श्री अरविन्द सत् के सन्दर्भ में उठने वाली समस्या के समाधान हेतु अनंत के तर्क का विधान करते हैं और कहते हैं कि 'चूँकि सत अनन्त है अतः उसकी सत्ता एवं क्रिया की विधि भी अनन्त होनी चाहिए, उसके जानने की विधि भी अनन्त

होनी चाहिए। यह मानना युक्ति विरूद्ध होगा कि सान्त चेतना या सान्त युक्ति बुद्धि अनन्त के मापक हो सकते हैं'।[१४] 'यथार्थता के अनेक स्तर हैं जो अवधारणा या मापक एक स्तर के लिए उपयुक्त होंगे वे दूसरे स्तर के लिए भी उपयुक्त हों यह आवश्यक नहीं है'।[१५] जो लोग परमसत् को अज्ञेय कहते हैं वे कैसे कह सकते हैं कि वह एक साथ सगुण-निर्गुण, ससीम-असीम, सापेक्ष-निरपेक्ष, परतन्त्र-स्वतंत्र नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यह है कि वह 'अज्ञात है अज्ञेय नहीं।'[१६] उसे जाना जा सकता है। उसके लिए हमारी बुद्धि को अतिमानसिक चेतना में, अनन्त की चेतना में अनन्त के तर्क के माध्यम से प्रवेश करना होगा। श्री अरविन्द का मानना है कि 'वस्तुतः सम्पूर्ण समस्या शाब्दिक या अवधारणात्मक है यथार्थ नहीं।'[१७] निरपेक्ष के स्वभाव के दो पक्ष हैं - एक है उसका आत्मभाव, स्वभाव या स्वरूप-स्थिति और दूसरा है - आत्मसृजनात्मक या क्रियात्मक। इन केन्द्रीभूत तथ्यों में कुछ भी यथार्थ विरोध नहीं है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक पक्ष हैं (एक ही सत्ता में)। हम जिसे बहु के रूप में देखते हैं वह एकमेव की बहुलता है (रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव)। एक क्षण से दूसरे क्षण तक गति करने वाली वर्तमान चेतना भूत को खोती, भविष्य को पाती और इन तीनों को, इनकी स्मृतियों को उस क्रिया द्वारा जोड़े रखती है जो है, 'था' और 'होगा' को बाँधे रखती है। उपनिषद्, गीता भी इसी भाव का प्रतिपादन करते हैं।[१८]

श्री अरविन्द के अनुसार 'सृष्टि अज्ञान में आत्मा का निमज्जन है।'[१९] इस प्रकाश और अन्धकार, सत्य और मिथ्यात्व से मिश्रित जगत् की सृष्टि केवल अज्ञान में आत्मा के अन्तर्लयन से ही सम्भव है। परन्तु अज्ञान में ऐसे निमज्जन का उद्देश्य पुनः ज्ञान एवं प्रकाश में लौटना है। अस्तु 'अज्ञान कोई भयंकर प्रमाद या पतन नहीं अपितु दिव्य सुअवसर है।'[२०] सच्चिदानन्द अपने सृजनात्मक पक्ष, अतिमन से होता हुआ अपने आप को आत्मआनन्द के लिए मन, प्राण एवं भौतिक तत्त्व में अन्तर्लीन करता है। क्योंकि 'विकास अन्तर्लयन की पूर्ववर्ती प्रक्रिया से प्रतिबद्ध है।[२१] यहाँ अवतरण के बिना आरोहण एवं अन्तर्लयन के बिना विकास अविचारणीय है।[२२] ब्रह्म अपनी चेतना की क्रिया के द्वारा घनीभूत होता है; उसकी इस घनीभूत अवस्था से भौतिक तत्त्व, प्राण, मन एवं लोक उत्पन्न होते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार विकास की त्रिविध प्रक्रिया -

प्रसारण, उन्नयन एवं समाकलन के माध्यम से भौतिक तत्त्व, प्राण, मन, अतिमन, सत्, चित्शक्ति एवं आनन्द - ये निश्चेतना से अतिचेतना तक विकसनशील आरोहण के विविध सोपान हैं। अतः यहाँ विकास प्रक्रिया का तात्पर्य चेतना का परमसत् की ओर आरोहण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस वैकासिकी क्रिया की दो प्रक्रियाएँ हैं - पहली है बाह्य या वैश्विक विकास की प्रक्रिया एवं दूसरी है आन्तरिक या वैयक्तिक विकास की अदृश्य प्रक्रिया जिसके लिए पुनर्जन्म एक अपरिहार्य शर्त है। श्री अरविन्द का मन्तव्य है कि मानव रूप में पुनर्जन्म की यह परम्परा तब तक चलती रहती है जब तक कि मानस प्रकृति का स्थान अतिमानस प्रकृति नहीं ग्रहण कर लेती। श्री अरविन्द इस वैकासिकी प्रक्रिया को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए त्रिविध रूपान्तर - चैत्य रूपान्तरण, आध्यात्मिक रूपान्तरण तथा अतिमानसिक रूपान्तरण का उल्लेख करते हुए स्पष्ट करते हैं कि चैत्य रूपान्तरण से हमारी सम्पूर्ण चेतन सत्ता जहाँ आध्यात्मिक अनुभव के लिए उपयुक्त बन जायेगी, वहीं अतिमानसिक चेतना के अवतरण से आध्यात्मिक प्राणी विज्ञानमय प्राणी (Gnostic being) में रूपान्तरित हो जायेगा, जो जगत् में और जगत् का होगा परन्तु साथ ही वह अपनी चेतना में इसका अतिक्रमण भी कर जायेगा और उससे ऊपर अपने विश्वातीत स्वरूप में भी निवास करेगा। वह 'विश्वात्मक होगा किन्तु विश्व में स्वतंत्र भी होगा; वह अपना व्यक्तित्व भी रखेगा किन्तु व्यक्तित्व के पृथक्कारी भाव से परिसीमित नहीं होगा।'[२३] यहाँ आत्मा-अनात्मा का विरोध समाप्त हो जायेगा। श्री अरविन्द कहते हैं कि 'जब एक बार विज्ञानमय विकास निष्पन्न हो जाता है तब सद्गुणों के, धर्मों के मानकों की आवश्यकता नहीं रह जाती सब कुछ आध्यात्मिक आत्मप्रकृति का आत्मप्रवाह, स्वभाव या स्वधर्म हो जाता है।'[२४] परन्तु विज्ञानमय प्राणी के अविर्भाव से वैकासिकी प्रक्रिया रूकती नहीं है यह आनन्द, चित्शक्ति और सत् की ओर बढ़ती रहेगी। अवतरण के पूर्व अज्ञान के आधार पर अग्रसर होने वाली यह विकास प्रक्रिया अब ज्ञान के आधार पर अग्रसर होती हुई अपने लक्ष्य सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेगी। आत्म स्थिति में प्रतिष्ठित हो जायेगी। श्री अरविन्द के शब्दों में 'विश्व सत्ता शिव का एक ऐसा आनन्द नृत्य है जो ईश्वर के देह को हमारी दृष्टि के सामने असंख्य गुणा बढ़ा देता है; इस तथ्य के होते हुए भी वह (शुद्ध) सत् जहाँ था वहीं

और जैसा था वैसा ही, जो कुछ सदा से है और सदा रहेगा ठीक वही बना रहता है, यह नृत्य उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करता। इस विश्व नृत्य का एकमात्र परम उद्देश्य है - नृत्य का आनन्द।'[२५] (लोकवत्तु लीला कैवल्यम्)[२६]।

आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

सन्दर्भ :

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.२.
२. श्री अरविन्द, मानव से अतिमानव की ओर, पृ. १२.
३. वही, पृ. ८
४. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. २०६. (केशवदेव आचार्य द्वारा अनुदित).
५. वही, पृ. १५४.
६. वही, पृ. १५५-१५६.
७. वही, पृ. १६५-१६६.
८. वही, पृ. १६६.
९. वही, पृ. १९६-१९७.
१०. श्री अरविन्द, मानव से अतिमानव की ओर, पृ. १०.
११. वही, पृ. ८.
१२. दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ७०.
१३. वही, पृ. ६६.
१४. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, पृ. ४४.
१५. वही, पृ. ४५.
१६. दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ४४.
१७. वही, पृ. ५०.
१८. गीता, १३.१७.
१९. आर.एस. श्रीवास्तव, श्री अरविन्द एण्ड दी थ्योरी ऑफ इवोल्यूशन, पृ. ५७.
२०. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ३६२.
२१. आर.एस. मिश्र, दी ह्यूमन एस्पिरेशन एण्ड इवोल्यूशन, पृ. ७; इण्डियन फिलॉसफिकल एनूएल, जिल्द १९१७.
२२. एस.के. मैत्रा, एन इन्ट्रोडक्शन टू दी फिलॉसफी ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ४.
२३. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड. पृ. ३९१.
२४. वही, पृ. ४१८.
२५. दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १३६.
२६. वेदान्त दर्शन, २.१.३३.

Black page 46

आधुनिक विज्ञान में प्रमाण एवं सौन्दर्य

अरविन्द कुमार राय

गीता पर भाष्य करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने जो 'ज्ञान' एवं 'विज्ञान' का भेद समझाया है, वह आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में भी प्रासंगिक है। भाष्यकार के अनुसार 'ज्ञान' शास्त्रोक्त पदार्थों के समझने का नाम है तथा 'विज्ञान' शास्त्र से ज्ञात पदार्थों का स्वानुभव है।[१] कुछ परिवर्तन के साथ यह लक्षण आधुनिक विज्ञान पर भी घटित होता है। 'वैज्ञानिक ज्ञान' विज्ञान के शास्त्रों में उक्त पदार्थों का ज्ञान है, तथा 'विज्ञान' उन पदार्थों को प्रयोगों के माध्यम से समझना है।[२] विज्ञान का अर्थ मात्र क्रमबद्ध तथा संगठित ज्ञान नहीं है। 'विज्ञान' का स्वरूप तथ्यात्मक साक्ष्यों और प्रयोगों के आधार पर उक्त पदार्थों की व्याख्या से निर्मित होता है।

विज्ञान सत्य का अनुसंधान है। लेकिन सत्य का अनुसंधान तभी प्रारम्भ होता है जब हम 'क्यों' का प्रश्न उठाते है। बुद्धि का लक्षण क्यों का प्रश्न उठाना है। ज्ञान केवल मनुष्यों को नहीं होता है, जानवरों को भी होता है। कुछ विकसित मनुष्येतर जानवरों को भी अनुभवात्मक ज्ञान होता है। अनुभवात्मक ज्ञान के स्वरूप को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है, लेकिन पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख दार्शनिक अरस्तू (३८४-३२२ ई०पू०) ने अपने तत्त्वमीमांसा नामक ग्रन्थ में अनुभव की जिस प्रकार व्याख्या की है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुभव के तीन मुख्य घटक हैं- संवेदन की योग्यता, स्मृति की योग्यता तथा शिक्षित होने की योग्यता। अरस्तू के अनुसार अनुभवात्मक ज्ञान जानवरों को भी हो सकता है। लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान का प्रारम्भ तभी

होता है जब हम 'क्यों' का प्रश्न उठाते हैं। यह 'क्यों' का प्रश्न आश्चर्य-गर्भित होता है तथा विज्ञान का आविर्भाव तथा विकास 'क्यों' के प्रश्न का सफलता पूर्वक समाधान करने के प्रयास से निर्मित होता है।[३]

अरस्तू ने उद्देश्य की दृष्टि से विज्ञानों का वर्गीकरण तीन कोटियों में किया है :

(१) सैद्धान्तिक विज्ञान (Theoria)- जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति ज्ञान के लिए (Knowledge for knowledge Sake) करने में रूचि रखते हैं;

(२) क्रिया विज्ञान (Praxis)- जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करने के लिए करते हैं (जैसे नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र);

(३) उत्पादक विज्ञान या शिल्प विज्ञान (Poiesis)- जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति किसी वस्तु के उत्पादन या निर्माण के लिए करते है जो मानव के लिए उपयोगी होता है यांत्रिकी, शिल्पकला तथा तकनीकी ज्ञान को इस कोटि में रखा जा सकता है। अरस्तू ने काव्य को भी इसी कोटि में रखा है क्योंकि हम काव्य का भी सृजन करते हैं।

यदि हम गणित और तर्कशास्त्र को विज्ञान की कोटि से बाहर रखते है, जैसा कि अनेक आधुनिक दार्शनिक करते है, तो सैद्धान्तिक विज्ञानों में सबसे उन्नत तथा व्यापक विज्ञान भौतिकशास्त्र का है। यह विज्ञान भौतिक पदार्थों की संरचना को जानने का प्रयास करता है तथा विभिन्न पदार्थों के सम्बन्धों के विषय में भी अन्वेषण करता है। अतः यहाँ वैज्ञानिक-ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते समय मुख्यतः भौतिकशास्त्र के स्वरूप को ही ध्यान में रखा गया है।

सैद्धान्तिक विज्ञान में सत्यानुसंधान के लिए अनुभव, परंपरा आदि आवश्यक तथा अनिवार्य है लेकिन पर्याप्त नहीं। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो वैज्ञानिक ज्ञान का वस्तुतः 'करण' बौद्धिक प्रतिभा है।[४] बुद्धि की आवश्यकता न केवल वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए आवश्यक है, अपितु धार्मिक विश्वास के लिए भी आवश्यक है। प्रसिद्ध ईसाई धर्मगुरु तथा विचारक संत थामस एक्वीनास (१२२५-१२७३ ई०) के अनुसार, ''श्रद्धा वह विश्वास है जिसे बुद्धि का अनुमोदन प्राप्त है।''[५] इस प्रकार श्रद्धा और वैज्ञानिक ज्ञान दोनों के लिए, संत थामस एक्विनास के अनुसार, बुद्धि का अनुमोदन आवश्यक है।[६] वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति में बुद्धि के प्रयोग का लक्षण 'क्यों

रूप वाले' प्रश्नों को उठाना तथा उनका सफलतापूर्वक समाधान करना है। अरस्तू के अनुसार 'क्यों रूपात्मक' प्रश्न को उठाने का अर्थ है कि हम वस्तु अथवा घटना के कारणों को समझना चाहते हैं। आधुनिक विज्ञान में 'क्यों' का अर्थ अधिक व्यापक है। जहाँ हम वस्तु की सांख्यिकीय व्याख्या करने का प्रयास करते हैं वहाँ भी हम 'क्यों रूप वाले' प्रश्न का समाधान करते है। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में सांख्यिकीय व्याख्या का प्रचुर प्रयोग होता है। यदि हम अरस्तू के ग्रन्थ तत्त्वमीमांसा में आये 'क्यों' का अर्थ 'क्यों आदि रूप वाले' प्रश्न करें तो वैज्ञानिक अनुसंधान का अर्थ है- पाँच ककारात्मक प्रश्नों को उठाना तथा उनका सफलतापूर्वक समाधान करना या किसी एक ककारात्मक प्रश्न को उठाना तथा उसका सफलतापूर्वक समाधान करना है। इस समाधान की प्रक्रिया में प्रयोगों का उपयोग वास्तव में प्रकृति के सामने प्रश्नों को उपस्थित करना है। ये पाँच ककार हैं- क्या, कहाँ, कब, किससे तथा क्यों।[७]

मानव जाति में ज्ञान प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति होती है। लेकिन वैज्ञानिकों के बौद्धिक सोच और प्राकृतिक नियमों में अद्‌भुत समानता होती है।[८] प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक सी० एस० पर्स (१८३९-१९१४) कहते है, ''जब हम ऐसे वैज्ञानिकों की युक्तियों की परीक्षा करते है जिन्होंने आधुनिक विज्ञान को दिशा दी है तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनकी युक्तियाँ सहजात्मक प्रवृत्ति पर आधारित निष्कर्षों को अधिक महत्व देती हैं।''[९] वह पुनः कहते हैं, ''..... किसी एक घटना से सम्बन्धित करोड़ों करोड़ परिकल्पनाएँ सम्भव हैं लेकिन मात्र दो या तीन परिकल्पनाओं में से या अधिक से अधिक दर्जन भर परिकल्पनाओं के आधार पर वैज्ञानिक सही परिकल्पना को पकड़ लेता है। तार्किक सिद्धान्त बुद्धि के आन्तरिक प्रकाश से समझ में आते हैं जिसे हम प्राकृतिक प्रकाश (Light of Nature) कह सकते हैं।''[१०] जिस प्रकार धर्म का ज्ञान कृपा के प्रकाश में सम्भव होता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान बुद्धि के प्रकाश से आलोकित होता है।

पर्स के अनुसार प्रकृति में आनुमानिक व्यवस्था है तथा यह व्यवस्था अरस्तू के न्यायवाक्य बारबरा (Barbara) के सदृश है।[११] हम यह मानते हैं कि कुछ प्राकृतिक नियम हैं जो न्याय वाक्य में मुख्य आधार वाक्य की तरह हैं, कुछ ऐसे नमूने हैं जो अमुख्य आधारवाक्य की तरह हैं- ये नमूने भविष्यवाणी रूप वाले हो सकते है, उदाहरण

हो सकते हैं या कारण हो सकते हैं जो न्याय वाक्य के मध्य पद का कार्य करते हैं। न्यायवाक्य का जो निष्कर्ष होता है वह प्राकृतिक नियमों के आधार पर या कारणों के आधार पर किये गये कार्य की अनुमिति होती है। यदि हम प्रकृति को इस प्रकार समझते हैं तो विज्ञान में तीन कार्य हैं; (१) नियमों की खोज, जो आगमनात्मक अनुमान से संभावित होता है; (२) कारणों की खोज, जो हेतु फलात्मक अनुमान से सम्भव होता है तथा (३) कार्यानुमान, जो निगमनात्मक अनुमान से संभव होता है।[१२]

उपर्युक्त उक्ति को समझने के लिए हम एक सरल उदाहरण ले सकते हैं। यह बारबरा न्यायवाक्य का उदाहरण है–

सभी प्राणी मरणशील हैं।
सभी मनुष्य प्राणी हैं।
अतः सभी मनुष्य मरणशील हैं।

प्रथम आधारवाक्य को मुख्य आधारवाक्य कहते हैं, द्वितीय आधारवाक्य को अमुख्य आधारवाक्य कहते है तथा तृतीय कथन निष्कर्षात्मक है। अरस्तू के तर्कशास्त्र में इस युक्ति के आकार का नाम बारबरा है। अरस्तू इस आकृति को वैज्ञानिक आकृति मानते है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यदि यह मानता है कि किसी वर्ग के सदस्यों का धर्म 'क' है और कोई वस्तु उस वर्ग का सदस्य है तो उसे निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि उस वस्तु का धर्म भी 'क' होगा। यह निगमनात्मक अनुमान है तथा इसकी प्रमाणिकता असंदिग्ध है। अरस्तू के अनुयायियों ने ऐसे विधियों को खोजने की तरफ ध्यान दिया जिससे अन्य अनुमानों को इस आकृति मे ढाला जा सकें। यदि भारतीय विधि से इस न्याय वाक्य को प्रस्तुत करने का प्रयास करें तो इसका स्वरूप होगा–

सर्वे मानवाः मरणशीलाः।
प्राणीत्वात्, अश्ववत्।

इस प्रकार हम देखते है कि न केवल ज्ञान की दृष्टि से आधुनिक विज्ञान में अनुमान का महत्व है अपितु प्रकृति की आन्तरिक संरचना में भी अनुमान व्याप्त है।

II

विज्ञान मात्र सत्य का अन्वेषण नहीं है अपितु सुन्दर सत्य का अन्वेषण है। वेदान्त के अनुसार परमार्थ का स्वरूप सच्चिदानन्दरूप है। विज्ञान के अनुसार व्यवहार में भी सत्य और आनन्द की अनुभूति होती है क्योंकि आनन्द का स्रोत सुन्दरता है तथा भौतिक पदार्थों में सुन्दरता पायी जाती है (ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते)। अनेक नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि सौन्दर्यानुभूति वैज्ञानिक अनुसंधान का एक अनिवार्य घटक है। प्रसिद्ध गणितज्ञ हर्मन वेयल (१८८५-१९५५) का कथन है, ''मैंने अपने अनुसंधान में सत्य को सुन्दरता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है, लेकिन जहाँ दोनों में किसी एक के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ है वहाँ मैंने सुन्दरता को प्रश्रय दिया है।''[९३] इसी प्रकार एक अन्य प्रसिद्ध गणितज्ञ प्वेंकारे का विचार है, ''वैज्ञानिक प्रकृति का अध्ययन इसलिए नहीं करते है कि वह उपयोगी है। वह इसका अध्ययन इसलिए भी करते है कि इस क्रिया में उनको सुखानुभूति होती है; और इसमें सुखानुभूति इसलिए होती है कि प्रकृति सुन्दर है। यदि प्रकृति सुन्दर नहीं होती तो ज्ञान के योग्य भी नहीं होती तथा जीवन भी जीने के योग्य नहीं होता।''[९४]

आधुनिक विज्ञान में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं (१) गणितीय सूत्रों, समीकरणों तथा तकनीकों का वैज्ञानिक तथ्यों के निरूपण में व्यापक प्रयोग; (२) गुणात्मक राशियों को परिमाणात्मक राशियों में ढालकर समझने का प्रयास। ऐंजल्स ने अपने ग्रंथ प्रकृति का द्वन्द्ववाद नामक ग्रन्थ में द्वन्द्ववाद के नियम का प्रतिपादन करते हुए परिमाण का गुण में और गुण का परिमाण में परिवर्तन के सिद्धांत को प्रथम द्वन्द्वात्मक निमय के रूप में स्वीकार किया है।[९५] वैज्ञानिकों द्वारा प्रकृति की सुन्दरता का विवेचन प्रकृति के संख्यात्मक और परिमाणात्मक ज्ञान का फल है। नाइट्रोजन मोनोआक्साइड (N2O) गुणात्मक दृष्टि से नाइट्रोजन पेन्टोक्साइड (N2O5) से भिन्न है, लेकिन इसका कारण परिमाणात्मक है। इसमें प्रथम गैस है जबकि दूसरा सामान्य तापक्रम पर ठोस क्रिस्टल है, दोनों में भेद मात्र यह है कि दूसरे में आक्सीजन (O) की मात्रा पहले की अपेक्षा पाँच गुना है। शीत और उष्ण का गुणात्मक भेद भी तापक्रम के संख्यात्मक भेद पर आधारित है। तापक्रम के अधिक होने पर वस्तु उष्ण प्रतीत होती है तथा कम होने पर ठण्डी। तापक्रम के परिमाण को नापा जा सकता है तथा उसे संख्यात्मक रूप से

प्रगट किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति के अनेक तथ्यों को संख्या और आकृति के माध्यम से प्रदर्शित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक परिकल्पना का स्वप्न व्याख्या और नियमों का अन्वेषण है तथा परिकल्पनात्मक विचार आकृतियों के माध्यम से विचार है।[१६]

प्रकृति के विषय में आकृति परक चिंतन तथा संख्यात्मक चिंतन का सत्य को सुन्दरता के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण अंशदान है। कोई भी चित्र सुन्दर तभी प्रतीत होता है जब वह समरूप (symmerical) होता है।[१७] समरूपता, वैज्ञानिकों के अनुसार सुन्दर पदार्थों का एक अनिवार्य घटक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द ग्रीक भाषा का शब्द 'Symitria' से आया हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, दो या दो से अधिक पदार्थों की समतुल्यता जिसे समान मापक से मापा जा सकता है। समरूपता, सुन्दरता, पूर्णता, क्रमता तथा समतुल्यता का लक्षण है। इसका दर्शन प्राकृतिक पदार्थों के निर्माण में तथा मानवीय कलाकृतियों में बहुलता से दृष्टिगोचर होता है। जब हम हवाई जहाज का निर्माण करते है तो हम दोनों पार्श्वों में समान लम्बाई के पंखों को लगाते है। ईश्वर ने हमें दो हाथ दिया है तथा एक हाथ का आकार दूसरे के सदृश होता है। कल्पना करें कि प्रकृति ने मानव को एक पैर, एक हाथ, एक आँख तथा एक कान वाले जीव के रूप में गढ़ा होता। ऐसी स्थिति में मानव के स्वरूप में वह सौन्दर्य नहीं होता जिसे हम आज देखते हैं। प्रकृति यथासंभव समरूपीय साँचे का प्रयोग जीव और जड़ पदार्थों के निर्माण में करती हैं। समरूपता का दर्शन पत्तियों में, फूलों में, जानवरों में, पौधों आदि में निर्माण में सर्वत्र दिखायी देता है। दिन और रात के क्रम में भी समरूपता है। छन्दों के सृजन में तथा अलंकारों के निर्माण में भी समरूपता का स्थान है।

वैज्ञानिक साहित्य में अनेक प्रकार की समरूपताओं का विवेचन किया गया है। यहाँ हम केवल तीन समरूपताओं का निर्देश करेंगे जो विषय के प्रतिपादन के लिए आवश्यक है। गणितीय दृष्टि से किसी वस्तु को समरूप कहा जायेगा, यदि परिवर्तन के उपरान्त उस वस्तु को पुनः प्राप्त किया जा सके। इसका अर्थ है कि समरूप वस्तु परिवर्तनों के मध्य अपरिवर्तित रहती है।[१८]

(१) प्रतिबिम्बात्मक समरूपता (Mirror Symmetry)- इसके उदाहरण के रूप में अंग्रेजी अक्षर- H को लिया जा सकता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है

कि H का दाया पार्श्व बाये पार्श्व के समान है। अतः इसे प्रतिबिम्बात्मक समरूपता का उदाहरण कर सकते है।

(२) चक्रक समरूपता (Rotational Symmetry)- इसके लिए हम N अक्षर का उदाहरण ले सकते है। N के दोनों पार्श्वों में समानता नहीं दिखायी पड़ती है, लेकिन यदि N को १८०° पर घुमाये तो पुनः उसको उसी आकार में प्राप्त किया जा सकता है। इसे चक्रक समरूपता कहते है।

(३) विस्थापनीय समरूपता (Translational Symmetry)- यदि किसी वस्तु को हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते है और उसके स्वरूप में परिवर्तन नहीं आता है तो उसे विस्थापनीय समरूपता कहा जा सकता है। यह विस्थापन देश और काल दोनों में हो सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में त्रिकोणात्मक आकृति को हम अ, ब रेखा पर स दूरी पर या स के गुणांकों की दूरी पर ले जाये तो आकृति में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है।

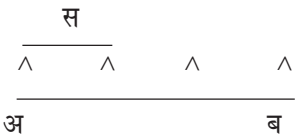

समरूपता का अध्ययन केवल आधुनिक विज्ञान और गणित की विशेषता नहीं है। ग्रीक दार्शनिकों ने भी इसे समझने का प्रयास किया है, लेकिन उन्होंने समरूपता के विवेचन में दैवीय मान्यताओं पर अधिक बल दिया है। अरस्तू ने प्रतिपादन किया कि सौर मण्डल के ग्रह वृत्ताकार पथ पर घूमते हैं, क्योंकि वृत्त में पूर्णता है। प्लेटो ने सिम्पोजियम में एक पौराणिक आख्यान का उल्लेख किया है।[१६] मानव पहले गोलीय आकार वाला था लेकिन उसको पार्श्वीय समरूपता में लाने का कार्य जीयस देवता ने अपोलो की सहायता से किया। उन्होंने यह धमकी भी दी कि यदि मनुष्य पुनः अपराध ा करेगा तो उसकी समरूपता को वह और विखण्डित कर देगें। इसका अर्थ यह है कि ग्रीक दार्शनिक गोलीय समरूपता या वृत्ताकार समरूपता को पार्श्वीय समरूपता से अधि ाक पूर्ण मानते थे। आधुनिक गणित तथा विज्ञान इस दृष्टि से विचार नहीं करता है, अपितु यह जानने का प्रयास करता है कि प्रकृति में कितने प्रकार की समरूपताएँ पायी जाती हैं तथा विभिन्न समरूपताओं का स्वरूप क्या है?

समरूपता और भौतिकशास्त्र के नियमों में अटूट सम्बन्ध है- इसका प्रतिपादन २०वीं शती के वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रतिफल है। २०वीं शती के पूर्व समरूपता का अध्ययन हुआ था, लेकिन इसे वैज्ञानिक नियमों के अनुसंधान में प्रमुख अस्त्र नहीं बनाया गया था। समरूपता को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में आइंस्टाइन युग का महत्व है। जर्मन गणितज्ञ विदुषी एमी नोएथर (१८८२-१९३५) इसी युग की उपज है, जिसकी प्रमेयों ने समरूपता को प्राकृतिक बलों के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[२०] नोएथर की प्रमेय इस प्रकार है-

भौतिकशास्त्र के नियमों के प्रत्येक अखण्ड निरन्तरतागर्भित समरूपता के लिए एक संरक्षणात्मक नियम अवश्य होगा।

प्रत्येक संरक्षणात्मक नियम के लिए एक अखण्ड निरंतरतागर्भित समरूपता अवश्य होगी।[२१]

यहाँ अखण्डनिरन्तरतागर्भितसमरूपता और खण्डात्मकसमरूपता के भेद को समझना आवश्यक है। जिस देश (space) और काल (time) से हम परिचित हैं उसे वैज्ञानिक अखण्ड-निरंतरता-गर्भित समरूप मानते हैं। खण्डात्मक (discrete) और अखण्डात्मक (continuous) का भेद निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है। प्राकृतिक संख्याओं जैसे- १, २, ३, ४ आदि को हम एक रेखा को क्रमशः आने वाले पड़ाव की तरह देख सकते हैं-

१ ० २ ० ३ ० ४ ० ५ ०.....

यह खण्डात्मक दृश्य है क्योंकि एक से दो पर जाने के लिए हमें कम से कम एक कदम लेना पड़ेगा। जहाँ चलने के लिए किसी कदम की आवश्यकता नहीं होती है उसे अखण्डात्मक कहते हैं। यदि कपड़े से परमाणु तक जाना पड़े तो हमें कपड़े को सूत में सूत को अन्य अवयवों में तोड़ते हुए परमाणु तक पहुँचना होगा, लेकिन देश के छोटे से छोटे प्रदेश में पहुँचने के लिए इस प्रकार के कदम नहीं उठाने पड़गें। अतः देश और काल अखण्डात्मक नैरन्तर्य वाले समरूप हैं।[२२] देश के किसी बिन्दु के लिए भौतिकशास्त्र के नियम अपरिवर्तित रूप से लागू होते हैं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि देश का छोटा से छोटा अंश लें जैसे १/०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ००० या $(१०^{-२४})$ मीटर लें तो भी हम पाते हैं कि भौतिकशास्त्र के नियम सत्य हैं। इतने

सूक्ष्म स्तर पर अत्यन्त सूक्ष्म माइक्रोस्कोप की भी गति नहीं है, फिर भी नोऐथर के प्रमेय के आधार पर निश्चिततापूर्वक हम कह सकते हैं कि भौतिकशास्त्र के नियम वहाँ घटित होते हैं। इसी प्रकार की स्थिति काल के भी संदर्भ में है। काल के १०–^{२८} सेकण्ड के सूक्ष्म अंश पर भी भौतिकशास्त्र के नियम वैसे ही घटित होते हैं, जैसे स्थूल स्तर पर। इसका अर्थ है कि गणितीय सिद्धान्तों के आधारों पर वैज्ञानिक उसे देखने और समझने में समर्थ होता है, जिसे हम प्रायोगिक यंत्रों और नंगी आँखों से नहीं देख सकते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि किसी लघु क्षेत्र में प्रकृति का जो व्यवहार है, वही व्यवहार पूरे ब्रह्माण्ड में है।[२३]

नोऐथर प्रमेय की गम्भीरता और महत्व को प्रदर्शित करने के लिए भौतिकशास्त्र के इतिहास से निम्नांकित घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा। किसी अस्थिर नाभि वाले परमाणु के केन्द्र से तीन प्रकार की किरणों का विकिरण होता है, जिसे वैज्ञानिक अल्फा, बीटा तथा गामा किरण कहते हैं। वैज्ञानिकों ने पाया कि बीटा किरण की प्राप्ति में ऊर्जा के संरक्षण के नियम का उल्लंघन हो रहा है। अनेक प्रयोगों में यह पाया गया कि जब न्यूट्रान का प्रयोगशाला में क्षरण होता है तो इलेक्ट्रान और प्रोट्रान के रूप में प्राप्त होने वाली ऊर्जा, मूल न्यूट्रानिक ऊर्जा से कम है। अतः यहा ऊर्जा और तथा घूर्णन के नियम का उल्लंघन हो रहा है, विज्ञान का अकाट्य नियम है कि ऊर्जा का विनाश नहीं होता है उसके रूप में परिवर्तन होता है।

मूल ऊर्जा से प्राप्त ऊर्जा कम क्यों है?- इस प्रश्न ने वैज्ञानिकों को बहुत परेशान किया। नेल्स बोर ने, जो क्वांटम यांत्रिकी के जनकों में से एक है, यह विचार व्यक्त किया कि ऊर्जा के संरक्षण का नियम स्थूल जगत में सार्थक है, लेकिन परमाणु जगत के विषय में पूर्णतः सत्य नहीं है, इसका एक नमूना उपरोक्त उदाहरण में दिखायी पड़ता है, लेकिन अन्य वैज्ञानिक इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं थे। यदि बोर का अनुमान सत्य है तो हमें यह मानना पड़ेगा की अखंडात्मक-निरंतरता का अस्तित्व सूक्ष्म जगत में नहीं है। जिससे सूक्ष्म जगत में ऊर्जा के संरक्षण तथा घूर्णन के संरक्षण के नियम का उल्लंघन हो रहा है। जगत की खण्डनात्मक सतह अनेक हैं जो वैज्ञानिक नियमों को प्रत्येक सतह पर घटने नहीं देते हैं। यदि यह जगत अखण्डात्मक है तो नोएथर की प्रमेय का खण्डन नहीं हो सकता है तथा ऊर्जा के संरक्षण का नियम सूक्ष्म जगत में भी सत्य

होना चाहिए।

सन् १९३० में एक युवा वैज्ञानिक वोल्फगैंग पौली[२४] ने एक नये अदृश्य कण की कल्पना की, जो व्याख्या के लिए आवश्यक था। यह कण लुप्त ऊर्जा का वाहक माना गया तथा इसका संकेत इसलिए नहीं मिल पाता था क्योंकि यह आवेश से रहित था। यह कण आज न्यूट्रीनों नाम से जाना जाता है। पौली का अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तथा १९५६ में क्लाइड कोवान तथा फ्रेडिक राइन्स ने प्रयोगों के माध्यम से इसका सत्यापन किया।

इस घटना ने विज्ञान को क्रान्तिकारी मोड़ दिया। आज प्रयोगशाला में वैज्ञानिक किसी कण को नहीं पाता है तो वह अखण्डात्मक-समरूपता के सिद्धान्त को मानते हुये ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्तों को मानता है तथा नये कणों को पाने का प्रयास करता है। नोबेल पुरस्कार विजेता लेडरमैन तथा हील का कहना है कि ''देश और काल की संरचना में समरूपता के सिद्धान्त तथा नोएथर प्रमेय की सत्यता के विश्वास को झटक देना आज अत्यन्त कठिन है।''[२५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति भी वैज्ञानिक पदार्थों के अन्वेषण के लिए दिशा प्रदान करती है। सौन्दर्यबोध केवल काव्यशास्त्र का विषय नहीं है, अपितु विज्ञान का भी विषय है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत का रसास्वादन अनेक मनुष्यों को सहजता से नहीं होता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक पदार्थों में भी रसबोध सभी विद्वानों के लिए सुलभ नहीं होता है। सुन्दरता का सारतत्व, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के अनुसार, समरूपता में निहित है। संगीत में आरोह और अवरोह का क्रम के कारण ही लय की उत्पत्ति हेाती है, अतः समरूपता सौन्दर्यबोध का एक अनिवार्य घटक है। समरूपता जहाँ एक ओर प्राकृतिक पदार्थों के सौन्दर्य का कारण है, वही दूसरी ओर वैज्ञानिक, प्रामाणिक तथा अपरिवर्तशील वैज्ञानिक सत्यों के उद्घाटन के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। वैज्ञानिकों के अनुसार जिस समरूपता का वे उद्घाटन करते हैं, उसका विषय वे मूल सिद्धान्त हैं जो प्रकृति और भौतिकशास्त्र के ऐसे नियमों को परिभाषित करते हैं, जो जगत को नियंत्रित करते हैं।[२६]

विज्ञान में नये पदार्थों का अन्वेषण दो प्रकार से सम्भव होता है- (१) प्रयोगों

के माध्यम से तथा (२) मान्य सिद्धान्तों के माध्यम से। मान्य सिद्धान्तों के आधार पर अन्वेषण की प्रक्रिया में प्रमाण संप्लव और अर्थापत्ति नामक प्रमाण की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। पौली ने १९३० में अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर ही न्यूट्रीनों का अन्वेषण किया जिसमें प्राप्त होने वाली ऊर्जा मूल ऊर्जा से कम थी। अतः पौली ने अदृष्ट ऊर्जा की व्याख्या के लिए नये कण की कल्पना की। १९५६ में इसी का अन्वेषण प्रयोगों के माध्यम से हुआ। इस प्रकार प्रमाण संप्लव के कारण वैज्ञानिकों में नये उत्साह का संचार हुआ। इस संचार का प्रतिफल यह हुआ कि वैज्ञानिक मात्र अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर ही निश्चिततापूर्वक अदृष्ट घटकों के न होते हुए भी नये कणों की भविष्यवाणी करने लगे लेकिन अर्थापत्ति प्रमाण की सफलता के लिए मान्य सिद्धान्तों का दोष रहित होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए देवदत्त मोटा है। वह दिन में नहीं खाता है, अतः हमने यह माना कि वह रात में खाता है, लेकिन यह अर्थापत्ति प्रमाण तभी सफल होगा जब हमारी यह मान्यता दोषरहित हो कि बिना खाये कोई मोटा नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊर्जा का संरक्षण तथा घूर्णन के संरक्षण का नियम[२७] यदि अकाट्य सत्य है तो इसके आधार पर हम सफलतापूर्वक अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग करके नये कणों का विधान या निषेध कर सकते हैं।

III

समरूपता का सम्बन्ध अपरिवर्तनशीलता से भी है। वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी कण, परमाणु, परमाणुओं का समूह, उपग्रह, ग्रह, ब्रह्माण्ड आदि भौतिक तन्त्र (Physical System) का उदाहरण है। किसी भी भौतिक तन्त्र में समरूपता का विधान किया जा सकता है। यदि परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद पुनः उस तन्त्र की प्राप्ति पूर्ववत् हो जाती है। समरूपता का अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद भी वस्तु अथवा तन्त्र की पूर्ववत् स्वरूप की प्राप्ति है।[२८] कल्पना करें कि कोई पुस्तक विक्रेता किसी पुस्तक को दिल्ली से काशी भेजता है। यदि पुस्तक एक दो दिन या एक माह के बाद मिलती है तो उसके स्वरूप में परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। एक माह के देशान्तर की प्रक्रिया पुस्तक के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं डालती है। यदि देशान्तर की प्रक्रिया दस साल तक चले, तो पुस्तक की पूर्ववत् प्राप्ति की सम्भावना कम है।

वैज्ञानिक यह रेखांकित करने का प्रयास करता है कि किस परिवर्तन की प्रक्रिया में वस्तु अथवा तन्त्र का कौन सा धर्म या नियम सुरक्षित रहता है। जो सुरक्षित रहता है उसे उस परिवर्तन की प्रक्रिया के सापेक्ष समरूप कहा जायेगा। यदि किसी सोने के छल्ले को घुमाते हैं। तो घुमाने के बाद पुनः उसकी पूर्ववत् प्राप्ति होती है। अतः घुमाने की प्रक्रिया के सापेक्ष सोने का छल्ला समरूप है। लेकिन यदि सोने के छल्ले को हथौड़ी से पीटे तथा उसे त्रिभुजाकार आकृति में या चतुर्भुजाकार आकृति में परिवर्तित करें तो इस प्रक्रिया में सोने की छल्ले की प्राप्ति पूर्ववत् नहीं है। लेकिन यहाँ भी गणितज्ञों के अनुसार आकृति का एक धर्म अपरिवर्तित है। आकृति त्रिभुज हो या चतुर्भुज हो या गोला हो लेकिन उसमें एक आन्तरिक प्रदेश तथा एक बाह्य प्रदेश अवश्य होगा। यदि कोई धर्म, वस्तु या नियम अनेक परिवर्तनों से गुजरते हुये भी पूर्ववत् रहता है, तो वह प्रकृति के मूल नियमों का एक महत्वपूर्ण अंश है। ऊर्जा के संरक्षण का नियम इसका उदाहरण है। भौतिक प्रक्रिया से गुजरने के बाद भी विद्युतीय आवेश का संरक्षण होता है, अतः यह भी प्रकृति का एक महत्वपूर्ण नियम है। न्यूट्रान विद्युत आवेश शून्य है तथा न्यूट्रान के क्षरण के बाद भी शून्य विद्युत आवेश की प्राप्ति होती है- $n^0 \quad p^+ + e^- + v^{-0}$. आवेश की दृष्टि से न्यूट्रान उदासीन है। इसके क्षरण के बाद हमें भावात्मक आवेश वाले प्रोट्रान की प्राप्ति, निषेधात्मक आवेश वाले इलेक्ट्रान की प्राप्ति तथा शून्य आवेश वाले (प्रति) न्यूट्रीनों की प्राप्ति होती है। यदि प्राप्त होने वाले आवेशों को जोड़ते हैं तो हमें यहाँ भी शून्य आवेश की प्राप्ति होती है। यह विद्युतीय आवेश की संरक्षण का महत्वपूर्ण नियम है। इस प्रकार के अनेक नियम भौतिकशास्त्र में समरूपता के आधार पर संकलित हैं।[२६]

समरूपता हमारी व्यर्थ की परिकल्पनाओं पर अंकुश लगाती है। यह संरचना की संभावना को सीमित कर देती है। बहुत सारी वैज्ञानिक काल्पनिक कहानियाँ दूसरे ग्रहों से आने वाले जीवों के विषय में प्रचलित हैं। लेकिन यहाँ भी समरूपता हमारा मार्गदर्शन करती है। दूसरे ग्रह से आने वाले जीव राक्षस हो सकते हैं, लेकिन उनके लिए भी पार्श्वीय समरूपता की आवश्यकता होगी।[३०]

प्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम ने यह संदेह व्यक्त किया था कि क्या प्रमाण है कि सूर्य अगले दिन उदय होगा? हमारा यह विश्वास कि सूर्य अगले दिन उदय होगा अभ्यास पर आधारित है। लेकिन आज हम इस सिद्धान्त में अधिक विश्वास करते हैं कि सूर्य

कब उदित नहीं होगा, इसकी भविष्यवाणी वैज्ञानिक समुदाय हजारों हजारों साल पहले करने में सक्षम है। हमारा ज्ञान भले ही आगमनात्मक है, संभावनायुक्त है लेकिन एक संभावना दूसरी संभावना से कई गुना प्रबल है। सूर्य कल उदय नही होगा संभावित है तथा वैज्ञानिक सूर्य के उदय न होने की भविष्यवाणी हजारों साल पहले कर सकते हैं- यह भी संभावित है, लेकिन दूसरी संभावना, आज वैज्ञानिक युग में, पहली संभावना से प्रबल होने के कारण इसको निरस्त करती है। सूर्य कल उदय होगा केवल अभ्यासीय आधार पर आज आधारित नहीं है। ह्यूम के समय में यह था। आज हमारा विश्वास अभ्यास के अतिरिक्त ठोस वैज्ञानिक सत्यों पर भी आधारित है। विज्ञान की सफलता मात्र इसमें नहीं है कि उसने हमें कुछ ज्ञान दिया है, अपितु इसमें भी है कि उसने पूर्व दार्शनिकों, विचारकों के अनेक परिकल्पित संशयात्मक जिज्ञासाओं के लिए द्वार बन्द कर दिया है। इसलिए एक वैज्ञानिक कहता है, ''भौतिकशास्त्र के अकाट्य नियम, जो मानव बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, रहने वाले हैं।''[३१]

समरूपता न केवल वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए दिशा निर्देश करती है अपितु अध्यात्मिक स्थिति का भी संकेत करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण, वास्तव में समरूपीय स्थिति का ही वर्णन है। स्थितप्रज्ञ वह है जो सुख-दुःख, भय, शोक, क्रोध इत्यादि की परिस्थितियों में भी अपनी स्थिति में भी कोई परिवर्तन नहीं होने देता है। जितने अंश में हम समरूपता के निकट होते हैं, उतने अंशों में ही हम साधु पुरूष होते हैं। अतः समरूपता विज्ञान और अध्यात्म दोनों का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। दोनों ही अपने-अपने ढंग से अक्षर पदार्थ को पाने का प्रयास करते हैं। अद्वैत वेदान्त में इसीलिए तत्त्व का स्वरूप अबाधितार्थ के रूप में प्रदर्शित किया गया है तथा प्रमा की परिभाषा करते हुए भी अबाधितार्थ विषयक ज्ञान को ही प्रमा माना गया है। व्याकरण दर्शन में भी आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् (१.६) में प्रणवाक्षर की महिमा का गुणगान करते हुए इसी हेतु को रेखांकित किया है (युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी)। विज्ञान भी अपने ढंग से अक्षर पदार्थ की प्राप्ति में जुटा हुआ है। अक्षर पदार्थ की दृष्टि से तथा अक्षर पदार्थ के ज्ञान की दृष्टि से ही ज्ञान में वस्तुनिष्ठता का विधान सरलता से किया जा सकता है।

आचार्य, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्...। **श्रीमद्भगवद्गीता ६.८ पर शांकर- भाष्य, (**गीता प्रेस, गोरखपुर, १९७१)

२. Reason, holding in one hand its principles, according to which alone concordant appearances can be admitted as equivalent to laws and in the other hand the experiment which it has devised in conformity with these principles, must approach nature in order to be taught by it. Kant I., **Critique of Pure Reason** ed. & tr. by Smith, N. K. (Mac-Millan 11th Impression, 1973, London, p. 20.

३. **Metaphysica** Book A1 in ***The Works of Aristotle,*** 2nd Edition tr. & ed. under the editorship of W.D. Ross, Vol. VIII, P. 981.A (Oxford at the Calendar Press, 1928).

४. राजशेखर ने काव्य मीमांसा में बुद्धि के तीन भेद किये हैं- स्मृति, मति तथा प्रज्ञा (त्रिध ा च सा, स्मृतिर्मति प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्रीः। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति)। यहाँ प्रतिभा को करण प्रज्ञा के अर्थ में कहा गया है जो अनागत पदार्थों का ज्ञान कराती है। स्मृति भूत विषयक होती है तथा मति वर्त्तमान विषयक होती है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभा के कारण परोक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष की तरह दिखायी पड़ते हैं तथा अप्रतिभा के कारण प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष की तरह दिखायी पड़ते हैं। *अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।* राजशेखर, **काव्य मीमांसा** चतुर्थ अध्याय, पृ० २७ एवं ३०, अनु० तथा संपा० राय, गंगासागर (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६४)

५. Faith *(fides)* implies the assent of the intellect to that which is believed. Tranoy, K., 'Thomas Aquinas', in **A Critical History of Western Philosophy,** Ed. by D.J. O'Connor, (The Free Press, New York, London 1964, p. 102.

६. What Aquinas does in this passage is to distinguish faith and scientific knowledge as two different species under a common genus; the assent of the intellect. **As above,** p. 102.

७. Most Scientist are prepared to grant that the chief theoreticl (that is, non-pragmatic) aim of scientific research is to answer, in an intelligible, exact and testable way, five kinds of question, namely those beginning with *what (or how), where, when, whence and why.* For the sake of

brevity let us call them the five W's of sciences. Bunge, M. **Causality and Modern Science,** (Dove Publication, New York, 1959), p. 248.

८. "..... the scientist is committed to the assumption of an affinity between his own mind and the laws of nature." Quoted from Feibleman, J. K., **An Introduction to the Philosophy of Charles S. Peirce,** (The M.I.T. Press Massachusetts, Cambridge, London, England Second Impression, 1970), p. 337.

९. **As above,** p. 338.

१०. **As above.**

११. We usually conceive nature to be perpetually making deductions in *Barbara.* This is our natural and anthropomorphic metaphysics. **उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत,** पृ० ३४५.

१२. **As above.**

१३. Lipscomb, William N., 'Aesthetic Aspects of Science in the Aesthetic Dimension of Science, ed. by Dean W. Curtin (Philosophical Library New York, 1980) से उद्धृत, पृ० ५.

१४. उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत, पृ० ७.

१५. एफ. ऐंजल्स के अनुसार द्वन्द्ववाद के तीन प्रमुख नियम इस प्रकार हैं– (1) The law of the transformation of quantity into quality and vice versa; (2) The law of interpenatration of opposites; (3) The law of the negation of negation. Angles, F., **Dialectics of Nature,** tr. by Dutt. C., (Progress Publisher Moscow 7th Empression 1976), p. 62.

१६. "The scientific imagination dreams of explanation and laws." Imaginative reasoning is reasoning by diagrams. Quoted from Feibleman, J. K., An Introduction to the Philosophy of Charles S. Peirce, The M.I.T. Press (Massachusetts), London, Second Impression, 1970, p. 340.

१७. "Standing at the blackboard and drawing some figures on it with chalk I was suddenly struck by the idea; why is symmetry so pleasing to eye? What is symmetry? It is an innate feeling, I answered myself. But what is it based on?"- Lev Tolestoy, Quoted from **This Amazingly Symmetrical World** by L. Tarasov, tr. by Alekzandar Repyev (Mir Publishers Moscow), p. 12.

१८. So a scientist definition of symmetry would be something like this; *Symmetry is an invariance of an object or system to a transformations.* **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 15.

१९. Aristophanes in Plato's Symposium tells a story about the transition from spherical to bilateral symmetry. Originally man was round, his back and sides forming a circle. To humble their pride and might, Zeus cut them into two and had Apoolo turn their faces and genitals around and if, said Zeus, "I have any more trouble with them I shall split them up again, and they have to hop about one." **Symposium** in the *Collected Dialogues of Plato*, ed. by Hamilton, E. and Cairns, H., (Princeton University Press, 1961, 5th impression New Jersey), p. 543.

२०. Symmetry was a totally modern and revolutionary way to think about the laws of nature, Noether's theorem intimately intertwines dynamics together with symmetry. It ultimately explains the forces and dynamics of nature that arise as a consequence of deep, underlying symmetries. Noether's theorem is certainley one of the most important mathematical theorems ever proved in guiding the development of modern physics, possibly on a par with the Pythagorean theorem. It doesn't lie in the province of mathematics along but rather is a profound statement about the entire physical world. Symmetry **Symmetry** and **The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 73.

२१. *For every continuous symmetry of the laws of physics, there must exist a conservation law.*

For every conservation law, there must exist a continuous symmetry- Noether's theorem quoted from **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 97.

२२. **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 82-87.

२३. The local laws of nature are fundamental and all-pervasive. The local laws determine ultimately what can or cannot exist. The global universe is ultimately one of the many gadgets or inventions or *applications* that one can make from the detailed unerstanding of the local laws of nature, **as above,** p. 95.

२४. सैद्धान्तिक भौतिक विद् के रूप में आस्ट्रीयन भौतिकविद् वोल्फगैंग पौली (Wolfgang Pauli) की ख्याति अद्भुत थी। उनके विषय में किंवदन्ती थी कि उनके किसी नगर में उपस्थिति मात्र से उस नगर में होने वाले प्रयोगों से गड़बड़ निष्कर्ष मिलने लगते थे। १९४५ में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला।

२५. Our faith, or should we say confidence (as science is not faith-based), in the symmetries to the structure of space and time, and Noether's theorem would at this point, be very hard to shake. **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 109.

२६. Inded, the symmetries we uncover are the basic principles that define our laws of nature and the laws of physics, hence those that control our universe. **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 43.

२७. सामान्यतः यह विश्वास करते हैं कि टहलने से व्यक्ति के भार में कमी होती है। यदि घूर्णन के संरक्षण का सिद्धान्त सत्य है तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि गति का सम्बन्ध मात्रा की वृद्धि से है। यह जो टहलने से भार में कमी होती है, वह ग्रंथियों के स्राव के कारण प्रतीत होता है।

२८. Essentially everything becomes a physical system, when viewed through the prism of physics. A physical system is said to possess a *symmetry* if one can make a *change* in the system such that, *after the change, the system is exactly the same as it was before.*We call the change we are making to the system a *symmetry operation* or a *symmetry transformation.....*

So, a scientist's definition of symmetry would be something like this*: symmetry is an invariance of an object or system to a transformation.*

Symmetry and The Beautiful Universe by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 15.

२९. ..... the mere existance of certain symmetries requires the existance of the forces that we observe in nature. We now know that all the forces in nature come from these deeper kinds of symmetries, called gauge symmetries....

Physicists now revere these abstract yet fundamental symmetries of nature, and we have come to see them as real and to intimately appreciate their subtle consequnces. **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 78.

३०. The extraterrestrial may be like a dragon from some fairy tale, but not like a Push-Pull, by no means. He cannot be left-eyed or right-eared. He must have an equal number of limbs either. Symmetry requirements reduce drastically the number of possible versions of the extraterrestrial's appearance. Lev Tolestoy, Quoted from **This Amazingly Symmetrical World** by L. Tarasov, tr. by Alekzandar Repyev (Mir Publishers Moscow), p. 50.

३१. "The eternal laws of physics, reflected in the human intellect, will go on."

He further says, "Nature goes on, however, with its eternal laws, permitting us, so far to see only part of the whole. Although the theory of everything still eludes us, the language has been learned-whatever new answers are found and deeper questions spawned, about the universe on its mathematical fabric, at centre will be symmetry. **Symmetry** and **The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 289.

३२. एक आधुनिक दार्शनिक विचारक रोबर्ट नोजिक ने अपने ग्रंथ **अपरिवर्तनीयताए (Invariances)** नामक ग्रन्थ में वस्तुनिष्ठ तथ्य या सत्य के तीन लक्षणों का उल्लेख किया है : (१) वस्तुनिष्ठ तथ्य कई दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। वस्तुनिष्ठ तत्त्व के ज्ञान के लिए प्रमाणों का संप्लव होना चाहिए; (२) उसके विषय में अन्तर्व्यक्ति

सहमति होनी चाहिए; (३) वस्तुनिष्ठ सत्य अथवा तथ्य का अस्तित्व हमारे विश्वासों तथा इच्छाओं से स्वतंत्र होना चाहिए। नोजिक के अनुसार इन सारे लक्षणों की व्याख्या अपरिवर्तनीय तत्त्वों या सत्यों के मानने पर निर्भर है। (However, it is a fourth and more fundamental characteristic of objective truth that I want to investigate here and objective fact is invariant under various transformations. It is this invariance that constitutes something and objective truth and it underlies and explains three-features "to the extent that they hold"), Nozick, Robert, **Invariances** : *The structure of the Objective World* (The Belknap Press of Harvard University Press, Cambridge Massachusetts, London, England, 2001), p. 76.

Blanck 66

CONTEMPORARY RELEVANCE OF TRADITIONAL INDIAN VALUES

N. K DEVARAJA

No community, even an uncivilized one, can even exist without pursuing or cherishing with varied degrees of awareness, some sorts of values. Compared to other creatures man has greater capability for creative response and behavior, variations in which are suggested by perception, however dim, of the constrains of the realities of the environment, physical and social; on the one side and by the felt freedom of movement and the capacity for exercising regulating control over his several impulses and drives for action on the other side .The generally acceptable modes of behavior or existence, that by degrees crystallize as codes of conduct or social institutions, constitute the indispensable base of man)s progress in self-knowledge as well as in the knowledge or understanding of the forces and conditions that tend either to support or to thwart his attempts to improve his lot and fulfill himself in different dimensions of living physical, social and spiritual. Here two facts about man deserve special notice, the multiplicity of his need that give rise to plurality of ends and purposes in his life in both its individual and social dimension and his capability to

consciously cherish and pursue some of these by deliberate choice. Thus it is that individuals and societies develop differences from one another leading, in the case of societies to the emergence of different civilizations and cultures or cultural traditions. Reflecting on the human condition the eminent psychologist and social thinker Erich Fromm has distinguished two broad categories of needs of human kind, the survival needs which man partly shares with other animals and the trans-survival or transcendent need that are peculiar to man as a creature living by imagination. The needs relating to man's bio-social existence of being would seem on reflection to give rise to and include the aspiration for wealthy and power, prestige, fame and glory. All these may be comprehended under the category of what the present writer has called and characterized as competitive goods, while the object or good associated with non- competitive. These latter include solicitous guest of truth and concern for justice and cultivation of virtues. With varying degrees of awareness most of the societies, even the so- called primitive ones with fantastic beliefs and superstitious practices, experience and seek to satisfy both types of needs and pursue both kinds of goods. However societies and cultures developing under varied geographic and historical conditions come to differ from one another in respect of emphasis they place on one combination of values or value-bearing objects or another. Differences of the kind may be detected and illustrated with reference to the histories of such diverse societies, cultures as the Greek and the Chinese, or these and the Indian. Affinities

and the difference may likewise be discovered between societies or cultures with polytheistic creeds such as the Greek and the Indian on the hand, and those favoring monotheistic faith such as Christianity and Islam on the other. While the former are generally noted for their tolerant attitude towards differences in their beliefs and forms of worship, the later are characterized by intolerance and hospitality with respect to said differences.

From almost the very dawn of India's civilization and spiritual culture, her mind came to be exposed to diversities in beliefs and ways of life which circumstances prompted her representative spokesmen and thinners to hunt for ways and methods of synthesis at the levels of both thought and practice. Thus we find the Vedic seers making the significant statement that 'the Real is one whom the sages designate by names'. It is difficult to find a similar statement, indicative of a broad minded, generous and tolerant spirit, in a religious text of Semitic origin.

As the Indian mind learnt to be more self- aware and articulate in its comprehension of values, representative Indian thinners formulated the doctrine of Puruṣārthas or the main objects and ends of life. Probably the earlier thinners, following the tradition of Saṁhitās and the Brāhmaṇas, recognized and emphasized only three Puruṣārthas, Dharma, Artha, Kāma. It is significant that Rāmāyaṇa of Vālmīki and the Arthaśastra of Kauṭilya do not mention Mokṣa as Puruṣārtha, much less as the most important Puruṣârthas or the ultimate goal of life. On the other hand both in Rāmāyaṇa and the Mahābhārata, as only in

the Purâṇas and the Dharmasūtras, greatest emphasis is laid on the Dharma, the principle responsible for the harmonious functioning of the social institutions and the maintenance of the social order. The ideal of Mokṣa, and of the life of renunciation leading to its realization, seems to have been a later development confined to more sensitive minds. While a synthesis of Dharma, the life breadth of ordered social life, and of Mokṣa, marking the culmination of the individual's quest for spiritual fulfillment, is attempted by the author of Manusmṛti, a work probably later than the principle Dharmasūtras, greater and exclusive emphasis on Mokṣa as the supreme value and end of life, came to be laid by the more philosophic followers of the Upaniṣads and such predominantly aesthetic cults as Jainism and early Buddhism. It may be remembered here that the Ṛṣīs of the Upaniṣads, who fondly discoursed on the character and desirability of Mokṣa, were in general married personages.

The above account of ancient Indian thought clearly brings out the comprehensive character of the philosophy of values it came to formulate. Teachers, like Bhīṣma and the authors of Dharmaœâstras like Manu, Yājñavalkya and others attach the greatest importance to Dharma or the order of justice in society and the division of life span into four Āśramas or stages. While according recognition the several most important concerns of life including those relating to the survival needs of man-in-society ,i.e. wealth and power, they did not fail to take notice of the individuals need for reasonable enjoyment of physical and intellectual pleasures of his transcendent aspirations. The

Varṇasrama scheme as visualized by Indian socio-philosophical thinkers has another noteworthy feature, its stress on specialized attention to and pursuit of different goods or values at different stages of life and by groups or classes of people with distinctively peculiar tastes and pursuits. The differentiation and division of people into Varṇas or rigidly demarcated classes, however, seems to have been a later development due to the largely changing objective political and economic conditions on the one side and the entrenched vested interests of the socially dominant groups on the other side. The fact of the later development of the Varṇa system attended with the conflicts and clashes short of revolutionary upheavals is attested by the part historic and part mythical stories of such eminent Purāṇic personages as Viśvāmitra and Paraśurāma on the one hand and by such utterances as those attributed to Dharmarāja Yudhiṣṭhira in the Mahābhārata regarding to the relative merits of the Kula or the caste and Shīla or character on the other. Yudhiṣṭhira also alludes to the phenomenon of intermingling (Sânkarya) of the Varṇas with consequent loss of their original purity. At a later date in his Brahmasūtrabhâṣya Sankara is led to remark (and concede)

that the Varṇa system at his time did not conform to the ideal as prescribed and practiced by the ancients. It is also noteworthy that the Bhagvadgīta clearly states that the order of the four Varṇas was created to conform to the differences in the guṇa-karma (i.e. pecularitier of temperament and behavior) characterizing different types of persons. The Gīta

also avers that the teaching of the karma-yoga originated among the Kṣatriyas thus denying that imparting instructions in spiritual knowledge and discipline was the prerogative of persons belonging to a particular caste and Varṇas. In a like manner no impropriety was suspected in the assumption of the role of both teachers and practicenor of the art of war by such Brāhmans by birth as Paraśurāma and Droṇācārya, even as Manu, a Kṣatriya, is considered to be most important among authors of Dharmaœāstras. It was stated above that the division of citizens into Varṇas contributed to their specialized training in different fields; however, as the divisions grew into rigidly different castes, they must have discouraged movement from one profession to another by the members of the different Varṇas and caste. As these divisions multiplied in later times, they became potent factors in promoting endless differences and disruptive, narrow loyalties among the members of so-called Hindu community. In respect of cohesion and unity that community today presents a marked, and sad, contrast to the well-knit communities of the followers of the other religions a Buddhism, Islam and Sikhism. One deplorable consequence of the aforesaid trend towards division has been the ever declining proportion of the Hindu population vis-à-vis other world religions with attendant waning of its cultural and political influence not only to the world at large but also in the land of its birth. The absence of united resistance by the Hindus divided into warrior and non-warrior, upper and lower castes was an important factor that helped the Muslim invader, full of spirit

of jihad, to subdue Hindu rulers and consolidate their power in conquered territories by winning over and occassionally converting the members of the lower castes to the creed. The pernicious effects of the aforesaid divisions have become particularly glaring after the establishment of a full-ledged democratic regime.

At the moment the prospects of effective revival of the culture and civilization of the Hindus even in the Indian subcontinent where alone they have sizeable majority seem to be dismally bleak. While on the one hand, caste system has acted as an insuperable obstacle to achieving abiding unity and solidarity of the people professing faith in Indian values, it has also affected their numerical strength by rendering them incapable of making converts from other creeds. Nor has their splendid heritage in religio-philosophic thought been of help in their socio-political struggles for the simple reason that their practice has consistently belied their high-sounding Vedāntic professions.

The one redeeming feature of the Hindu mind that may help the regeneration as distinguished from dogmatic revival of the ancient Indian or Hindu culture is its spirit of free injury and openness to the new ideas particularly in the realm of religio-philosopher thought. This spirit may enable it to reinterpret and supplement traditional concept and values by bringing then in line with modern scientific- humanistic ways of thought and with democratic ideals. That the Hindu mind has both receptivity and resilience necessary for successful

adaptation to changing environment of ideas and values is attested by the each that while retaining the essentials of its rich spiritual heritage, it has yet not failed the new leaders of thought e.g. Vivekananda and Tilak , Gandhi and Tagore, M. N. Roy and Nehru who sought to inculcate new awareness involving redistribution of emphasis on age-old ideals of Dharma or social morality and Mokṣa or the quest of the individual's own spiritual fulfillment indeed Mahatma Gandhi the greatest spiritual leader and saint, fighter for justice that modern India and perhaps the modern world has produced tended to identify the individual's quest for perfection with active service of suffering humanity. It is noteworthy too that during its long history the Hindu religion has produced larger number of saintly teachers including such outstanding personages as the Buddha, Mahāvīra, Śaṅkara, Rāmānuja ,Kabir, Guru Nanaka, Ramkrishna, Dayananda and Gandhi, each of whom attracted a large number of admirers and followers, then perhaps any other religion.

Hinduism may be justly proud not only of her spiritual heritage but also of her enviable record of intellectual attainment in various fields particularly in the domain of logic, epistemology and metaphysics- the disciplines that came to be closely associated with her spiritual quest. Nor did here thinkers neglect the more mundane disciplines of politics and diplomacy and those relating to the arts of music, dance and drama, as also to painting, sculpture and architecture. Even the pursuits of conjugal happiness of trade and commerce and the science and art of the study and administration of medicines attracted

considerable talent in ancient and medieval India. A proper and critical awareness of the spacious range of the achievement of our illustrious forebears cannot and should not fail to instill in us a new faith in ourselves 2nd imbue us with a new sense of courage and responsibility to march towards a brighter and greater future worthy of our great and shining past history in culture and civilization.

Former Professor & Head, Deptt. of Philosophy, BHU.

Black page 76

PHILOSOPHICAL CONTRIBUTIONS OF J.L.MEHTA: SOME REFLECTIONS

SANJAY KUMAR SHUKLA

Professor J.L. Mehta was an outstanding scholar of Indian and Western philosophical traditions. He was well trained in Indian philosophical systems and in early student days he developed keen interest in the works of Freud, Wittgenstein and Heidegger. He showed an unusual facility to move between Eastern and Western thought. He was born in 1912 and passed away in 1988 while delivering his lecture on "*Sri Krishna : The Lord as Friend*". This is quite enough to substantiate the claim that till last breath he was attuned to God and deeply engaged in philosophical contemplation. His personality bears testimony to the confluence of *Jòâna*, *Karma* and *Bhakti Mârga*. He had obtained Post-graduate degree from Banaras Hindu University and after that he served different educational institutions like Kishori Raman College- Mathura (1937-44), Maharaja College- Jaipur (1944-48) and then appointed lecturer and later on became Professor and Head in the Department of Philosophy in Banaras Hindu University (1948-72). He was awarded Ph.D. degree in the year 1965 under the supervision of Professor T.R.V. Murti over Heideggerian philosophy. Apart from Professor Murti other examiners of his thesis were great scholar like Professor Kalidas Bhattacharya (Shantiniketan),

Professor Ludwig Landgrebe (Cologne) and Professor Walter Biemel (Aachen). Later on his thesis in revised and enriched from was published as "*The Philosophy of Martin Heidegger*" by the Center of Advanced Study in Philosophy, Banaras Hindu University (1967). The same was published by Harper & Row, United States of America (1971). Hannah Arendt, the author of world acclaimed book "*On Violence*," during conversation with Professor J.N. Mohanty asked "Do you know that the best book on Heidegger, in any language, is written by an Indian? That is your fellow countrymen being J.L. Mehta." He was fellow of Alexander Von Humbolt Foundation- Germany (1956-58), W. Fullbright Visiting Lecturer (1964-65) in America, and apart from that he was Professor in Hawai University for two years and remained visiting Professor for one decade in Harward University (1962-72) in America. These factual informations are sufficient to establish the view that his profound scholarship is not confined to India only but seriously recognized and widely appreciated in international academic world. Indian Council of Philosophical Research- New Delhi had made him Senior Fellow and by this truly speaking council itself is honoured. His personality was multi-lingual as he had mastery over Hindi, English, Sanskrit and German languages. It is always a matter of immense joy and academic satisfaction to go through his philosophical writings as they are thought provoking and heavily loaded with penetrating philosophical insights. We are highly indebted to him for wide range of serious and significant philosophical writings that he had contributed. I am here presenting some seminal works of him as "*The Philosophy of Martin Heidegger*," published by The Center of Advanced Study in Philosophy, Banaras Hindu University (1967) and this work

was published for the first time in America by Harper & Row (1971). He has made English translation of *"Martin Heidegger"* written by Walter Biemel. *"Sri Aurobindo : Life, Language and Thought," "India and the West : The Problem of Understanding,"* edited by M. David Eckel, Center for the Study of World Religions, Harvard University, Scholar Press (1985), *"Kavi Karma Aur Cintana : Sarjanâ kei Do Âyâma"*, *"Philosophy and Religion : Essays in Interpretation,"* Indian Council of Philosophical Research, New Delhi (2004) etc. are some monumental works of him.

I

It is after furnishing brief academic biodata of Professor Mehta an attempt will be made in this section and subsequent sections to understand the conceptual scheme of him. It is truism to state that we must understand in order to appreciate, and this necessitates us to have a proper understanding of his philosophical ideas as delineated in different works. *"The Philosophy of Martin Heidegger" is the magnum opus* of Professor J.L. Mehta, in which it is explicitly stated that the finitude of human thought lies in the fact that it is prompted by a profound need to raise and answer questions about ultimate truth and is at the same time incapable of arriving at any definitive, eternally valid formulation. In the sphere of thought concerned with ultimate, the individual and the historical, the method and the language are all integral parts of the "way" of thought. Another mark of the finitude of human thought is that it is time-bound and conditioned by the cultural and historical situation in which and from which it springs forth, even while seeking to transcend it towards a higher generality. This is what

makes Heidegger a critic of the present time as the era of technology, of the modern period as the age of subjectivism and of the entire metaphysical tradition of the West since the time of Plato as determining our present homelessness and oblivion of our true foundations. It is the explicit awareness of this finitude that makes him keenly sensitive to the origins of this tradition, to its uniqueness and to its difference from other traditions grounded in other modes of illumination. It is for this reason that Heidegger is able to achieve a finitude of transcendence that goes beyond the limits of the present and of the tradition that has brought it to pass, into a realm which is not that of merely empty and timeless universality but which is concretely and directly relevant to our thinking here and now. The main themes of Heidegger's thinking are the traditional themes of *philosophia perennis :* Man, World, Being and truth, and language which encompasses them in the medium of thought. But he seeks to think of these concepts in a novel way and in a new language. His approach is "phenomenological" in the broadest sense of the term, not ratiocinative or argumentative. The phenomenological discourse aims at disclosure of what is hidden and implicit in experience. In this way Heidegger was very fond of bringing, some "state of affairs" into views, letting what is come to light.

Heidegger differs from Husserl in his philosophical enterprise on these grounds : 1. Husserl talks about the possibility of radical start in philosophy, that is, a beginning with a clean state, whereas for Heidegger philosophical enquiry is always historical as beginning with traditional concepts presupposed. 2. Husserl, in his phenomenological programme, makes arrangement for Transcendental Ego. Heidegger has not

only rejected the notion of Transcendental Ego but attempts to replace it by *Dasein. Dasein* means 'being in the world,' and it includes an analysis of man's *existenzial* constitution having account of attunement or mood, understanding, interpretation, judgment and language; that everyday modes of man's openness to world and his abandonment to it. The meaningfulness of *Dasein* lies in its temporality, and the provisional analysis of the structure of it will have to be reinterpreted later in terms of temporal modalities. This temporality refers to the condition of the possibility of the historicity inherent in man's mode of existence. The being of *Dasein* is constitutes by care (*Sorge*), with its element of facticity (thrownness), *existenz* (project) and forfeiture. This brings feeling of dread (*Angst*) and guilt (*schuldig*) in man's life. But the *existenzial* interpretation of conscience aims at a discovery of the testimony existing within man himself of his inmost potentiality of authentic *existenz.* Resoluteness manifests itself only in comprehending, self-projecting resolution in face of factual possibilities. It is with the concept of resoluteness that a definite ontological sense can be attached to *Dasein's* potentiality of being authentically whole. Hence, the stress on authentic mode of existence puts the traditional concept of responsibility in a new light which refers to a kind of honesty or a kind of courage. Heidegger seeks to approach the problem of Being through the comprehension of Being inherent in *Dasein,* through an analysis of man's capacity to go beyond himself and beyond essence (*essents*) as such. *Dasein* goes out beyond all *essents* including itself, reaching up to world, which is part of the structure of transcendence, of *Dasein's* being-in-the-world itself. In Heideggerian conceptual framework asking question about Being

means nothing less than to recapitulate (*wieder-holen*) the beginning of our historical- spiritual existence that is to transform it into a new beginning. It is in fact the authentic pattern of historicity. Heidegger is against equating Being with either God or ground of the world. Being is broader than all beings and yet nearest to man. It is nearest to man, because it makes man what he is. It allows him to enter into comportment with other beings. The hiddenness of Being in beings is, for Heidegger an essential part of his experience as Being itself. The foundational thinking tries to mediate Being as the process of truth and that is coming to pass of the lightening process in beings. Hence, it is the process by which human *ek-sistence* responds to Being not only in its positivity but also its negativity. In this way "*The Philosophy of Martin Heidegger*" is undoubtedly faithful and critical exposition of Heideggerian philosophy.

II

This section is devoted to another outstanding work of Professor J.L. Mehta entitled "*India and the West : The Problem of Understanding.*" It is a collection of 11 seminal research papers with a wide range of thought. I will be just furnishing the basic philosophical insights of them in very precise manner. The first research paper is "*The Concept of the Subjective*" which maintains that entire history of modern philosophy since Descartes is explication and development of the theory of subjectivity. The main thrust of this paper is critical appraisal of the notion of subjectivity in the philosophical writings of Husserl, Sartre, Ponty and Heidegger. The subjectivity is analysed in terms of intentionality, transcendency,

facticity finitude and forfeiture in existentialist tradition. *"The Philosophical Necessity of Existentialism"* is second article in which he brings forth the genesis of existentialism in religion, atheism and phenomenology. It is expression of a peculiar historical situation in the spiritual condition of today. It must be regarded as a completion, a corrective and necessary supplement to traditional metaphysics. The term "existence" refers to a mode of being peculiar to man, and therefore man has potential existence. He fulfills this potentiality of existence in relation to transcendence and in communication with others. *"The Existentialism of Jean Paul Sartre"* is third research paper which contemplates consciousness not in general sense but refers to particular consciousness, a spontaneity which is impersonal and individuated in the midst of the world. Consciousness is pure transparency, spontaneity and intentionality; but it is also pure negativity, not only itself a nothing but an essentially nihilating presence. Sartre's ontology accepts here the distinction between "being for itself" and "being in itself". Hence, consciousness is self-nihilating, perpetually escaping the causality of the past and spontaneously going out towards and intending a world. *"The Concept of Progress"* is next article of this edited book. The ideas of self-fulfillment and freedom have provided the dominant terms in which Western man has sought to understand himself and situate his destiny in the world since the Renaissance. History is meaningful only in the perspective of future possibilities. The systematized formulation of the idea of perfectibility and progress was given by Auguste Comte, with whom the religion of humanity became at the same time the religion of progress. The very process of secularization led to the cult of progress

which enables us to re-think and re-formulate the truth about time that lies hidden behind the mythical conception of eschatology, the metaphysical concept of eternity and the understanding of time in the historical consciousness.

"*Being and Non-being*" is another article. As we all know that the term "being" and its correlate "non-being" is central concept of Western philosophical thought. Professor Mehta offers critical exposition of Kantian analysis of being and non-being and concludes with Heideggerian treatment of Being. Kant conceived Being, like Aquinas, as an individual and at the same time he never allowed the possibility of Being independent of the theological problem of God. He explains being as pure position and thus locates its meaning in positing as an activity of human subjectivity. Being and Non-being belong together in the same location (*topos*), according to Heidegger, and both are consequent on the "metaphysical" quest for transcendence and ground. The next article in the series is *"Problems of Inter-cultural Understanding in University Studies of Religion"*. He seeks to explore the subject of inter-cultural and religious understanding from the perspective of philosophical hermeneutics in concrete situation. The primary task is of a critical and creative understanding of our own religious traditions and apart from that there is pressing urge to have better understanding of "the faith of other men". It is nicely pointed out that if the Orient has followed the path of pre-conceptual absorption and insulation, the Occident has treated the other merely as its own negation, without caring to determine it in itself or seeking to understand it from within. Hence, the nisus towards the goal of world- community cannot reach its end through any sort of *Herschaftswissen*, or any sort

of cultural conquest, nor merely through a peaceful co-existence of religious traditions, but solely through active understanding of each other. *"Understanding and Tradition"* is another thought provoking research paper included in this volume. Professor Mehta here draws our attention that philosophical thought is rooted in cultural matrix and in this way the basic problem of life and experience is always embedded in a context of tradition. This gives it a factual and historical dimension requiring what has been called understanding (*Verstehen*) and interpretation in recent thought on the foundations and philosophical significance of the human sciences. Understanding is not the detached contemplation of a meaning factually out there but is always self- understanding, and we always do this in terms of projecting ourselves on our own possibilities. Finally, there is no absolute antithesis between tradition and reason, for the former depends upon its continuity, not upon the sheer inertia of physical persistence but upon our rational affirmation and critical appropriation. *"The Problem of Philosophical Reconception in the Thought of K.C. Bhattacharya"* is next research paper. Bhattacharya sought neither to construct a system of speculative thought nor to create a comprehensive world-view encompassing all of man's religious and philosophical experience. He had penetrating insights into the truth of his own tradition and at the same time genuinely open to the call of modern Western thought- especially of Kant and Hegel. For Bhattacharya the concern of Vedânta is with the subject or subjectivity conceived as conscious freedom or felt detachment from the object. He agreed with Kant in rejecting "the so-called metaphysics of the soul," as for him, the subject is a believed content, is problematically spoken as "I" and is not

meanable (thinkable) or is not a meant something. Bhattacharya criticizes Kant for his "persisting objective attitude." Hence, philosophical reconception springs from the need for a creative response to the encounter of two traditions, each speaking a different language, each constituting a world horizon in its own right, and of which a certain degree of fusion can be brought about only by the faith that the utterance of one's own tradition can sustain itself and even find a more satisfying articulation in an alien medium, in an alienated age.

"The Will to Interpret and India's Dreaming spirit" is the next article included in this edited volume, which points out that philosophical hermeneutics, is the recent trend of contemporary Western philosophy. This is concerned not so much with the methodology of interpreting texts but with understanding and interpreting basic moments in man's very way of being human. This trend is well exhibited in the philosophical literatures of Dilthey, Heidegger, Gadamer and Ricoeur. Mircea Eliade has felt the need of a "creative hermeneutics" as the only adequate response to the cultural and religious pluralism of the present. Hegel remarked that the light of spirit arises in Asia, but it is in the West that there arises the sun of self- consciousness, which diffuses a nobler brilliance. He further pointed out that in Indian idealism Absolute is presented as "in the ecstatic state of a dreaming condition" and where "the spirit wanders into the dreaming-world and the highest state is annihilation," a dreaming unity of spirit and Nature, which "involves a monstrous, bewilderment in regard to all phenomena and relations." But Professor Mehta had always been critical to such mode of philosophizing as found in Hegel and Heidegger. *"Beyond Believing and Knowing"* is another

research paper in which two major traditions of Indian spirituality Vedânta and Buddhism are being discussed. Knowledge in these two traditions is immediate, an experienced reality in which the duality of knowing subject and known object lapses and truth revealed in them is not something to be believed merely, or even known. Mircea Eliade is concerned largely with the cultural appropriation by the West of elements of alien religiosity by the study of myths and symbols, Yoga and Shamanism and benefiting from the researches of cultural anthropology and structuralism. The concern with the development of a "planetary culture" seems to answer to a real spiritual need which generates a new form of religiousness beyond believing and beyond knowing in the scientific sense. The last research paper included in this edited volume is *"Heidegger and Vedânta : Reflections on a Questionable Theme."* Heideggerian existentialism and Vedântic idealism appear to be entirely different philosophical traditions but still they point out that what is questionable can be sometimes be worthy of thought, and what is unthinkable can sometimes be glimpsed as that which thinking is about. Úamkarâcârya maintained that the tree of Samsâra, the wordly existence, which sprouts from action and constitutes the field of confusion and error, must be torn from its very roots. A statement like this can be misunderstood as a classic example of life-denying philosophy. In reality, what it denies is not life but the death in life that consists in taking things as empty of a self or without ground in Being. The search of *"philosophemes"* common to Heidegger and Vedânta can be grounded in man's nature, the world, and man's relationship to it, the unity of Being, the identity between man and Being. Heidegger speaks of the experience of thinking, of thinking as itself an experience,

appropriating within thinking the precious element of immediacy in all mysticism. Thinking is thus in a profound sense experiencing and transforming. He talks about the structure of inner experience of its correlate, the world of objectivity as disclosed in such experience. Similarly in Advaitic tradition we witness the way of insight through meditative thought which culminates in "seeing" the Reality.

III

We are going to discuss in this final section "*Philosophy and Religion : Essays in Interpretation*" of Professor Mehta. This volume brings together a seminal collection of 15 papers by a scholar whose interests ranged from Heidegger to the Vedas, and from the critique of Western civilization to the future of philosophy in India. Is it possible to bring to bear on Indian philosophical texts, which belong to a tradition of their own, an interpretive framework derived from a different tradition? Professor Mehta addresses this crucial question through witnessing to a dialogue of cultures in which he himself was deeply involved. This leads him to reflect on Heidegger, the study of world religions, Sri Aurobindo, the Mahâbhârata, the Rigveda, and the rich area in Indian thought in which philosophy, religion and poetry interfuse. He pays his own tradition the homage of retrieval and rethinking. He is able to do this with the consummate skill and bifocal vision of an Indian philosopher deeply versed in the thought of Heidegger and the whole hermeneutic approach; one who experienced in his own being the poignancy of philosophizing in modern idiom and yet in the light of insights and concepts rooted in the distant past.

The first essay is *"Heidegger and the Comparison of Indian and Western Philosophy."* Comparative philosophy is a relatively recent academic enterprise in which Daniel Ingalls, Paul Deussen, R.G. Collingwood and Martin Heidegger have made valuable contribution. Ingalls has questioned the quest of similarity between Western and Indian philosophical doctrines as initiated by Deussen. The similarity which he (Deussen) found between the philosophy of Úamkarâcârya and that of Kant is artistic (superficial) similarity ignoring the differences of cultural perspectives. Heidegger has pointed out that 'Being' is the ground-word of the Western tradition reflecting reality disclosing itself, and in similar fashion one may say that *'Brahman'* and *'Âtman'* are the ground-words of the Indian tradition exhibiting its spiritual destiny. Like the Western philosophical tradition, the development of the Indian tradition deals with questions of ultimate reality, of the nature and criteria of knowledge, of man and world and of the basic categories through which we think about them. Hence, comparative philosophy must enlarge our philosophical understanding of two different trends- Orient and Occident. *"In Memoriam : Martin Heidegger"* Professor Mehta focuses upon how Heidegger can certainly help us to glimpse the 'un-thought essence' of technology and so to free ourselves from the magic web of that philosophy which, in its ending, has entered into the social sciences. The fascinating thing about Heidegger's work is the appropriation of the religious into the enterprise of 'pure' thinking. It marks the emergence of new 'thinking' taking the character of devotion (*Andacht*) as a response to a call that comes to man from beyond himself. *"World Civilization : The Possibility of Dialogue."* is the serious research paper of

Professor Mehta which tries to answer the basic question that given the domination of the West, can there be dialogue between civilizations? Paul Ricoeur has endorsed the ideal of 'universal civilization' exhibiting affinity with Husserlian idea of the 'Europeanization of the world'. For Heidegger 'world-civilization' means the supremacy of the natural sciences, the supremacy and pre-eminence of economics, of politics, of technology. Homelessness is the destiny of the world in the shape of world-civilization. A dialogue between civilizations is urgently needed in the sense of sharing of insights with the help of resources preserved in traditional heritage. But all dialogue, aiming at mutual understanding between peoples on a philosophical level, is open to the danger of lapsing into inauthenticity. Hence, for authentic self- understanding what we need is recollective, originative and meditative thinking.

"A Stranger from Asia" is the next article included in this volume. It is pointed out by Professor Mehta that from Kant to Jaspers, German philosophers have exhibited an awareness of ancient Indian philosophy which is almost completely absent in Heidegger's writings. But Heidegger has reported an important aspect of Upanis?adic view of man, which does not take account only of his waking state (*Jâgrat*), but takes notice of the dreaming *(Svapna)* and sleeping *(Sus?upti)* states also as making up the totality of his mode of being, interpreting them all from the perspective of a fourth transcendent state of consciousness *(turîya).* This fourth state is truly authentic mode of being in which he is at one with his essential nature thus exhibiting the identity of Self *(Âtman)* and Absolute *(Brahman).* It is because of Heidegger's unwillingness to step out of the sphere of finitude, of thinking, that prevents

him to acknowledge and appreciate the philosophical significance of *turîya*. The other reason that prevented Heidegger from taking the step from sleeping to the fourth state is wrong translation of *Cit (constitutive of Âtman-Brahman)* as simple consciousness. The next article is *"Philosophy, Philology and Empirical Knowledge"* in which Professor Mehta discusses about Hegel, Heidegger, Gadamer, Ricoeur, Halbfass and others, regarding linkages between tradition and modernity as well as the possibility of any dialogue between Eastern and Western philosophical traditions. It is pertinent to note that proper philosophical activity is not confined only to what is thought but with the still unthought and calling for thinking. He had shown appreciative tone towards the new mode of inquiry called 'philosophical hemeneneutics.' Hence, it is for this reason that in contemporary thought questions of textuality, historicity and interpretation have come to assume such importance at the expense of the ratiocinative type of philosophical thinking. *"The Hindu Tradition : The Vedic Root"* refers to the historical processes and events that lead to the building up of a cumulative religious tradition which is complex and often obscure and difficult to unravel and interpret. In the Indian case, the historical origin and sources can be easily traced from the Rigveda, which remains not only the *arche*-text of this religious tradition but also the animating source of the religiousness that has generated and sustained the tradition and given it its own unique form and substance. A basic facet of religiousness which is almost focal in the Rigvedic experience is the majesty, the sacredness and all pervasive reality of the word. The first volume of Max Muller's edition of the Rigveda was published in 1849 and the last, sixth volume in 1874. Another Western scholars

who had worked upon Vedic literature were Oldenberg, Bloomfield, Luders, Thieme etc. But the Western Veda philologists and indologists are mostly suspicious and often ignorant about how the Veda has been historically operative in the life of the people or has been understood within a living tradition.

The next article of this volume is *"Sri Aurobindo : Life, Language and Yoga."* Aurobindo was not just an author, or a thinker, whose intellectual energy went into the writings of books only. Primarily he was *yogi* engaged in comprehending and shaping all of his life and experience. The final goal of humanity can be only spirituality which is radical and integral transformation of Nature..... the supramental transmutation.... progressive movement of the ascent of the supramental consciousness into our entire being and nature. He retained English in own creative writing, but at the same time emptied it of its cultural content. It enabled him to communicate his thinking to the world community loaded with Indian religious experience and tradition. He has interpreted Veda as a living religious scripture that is *arche*-text of the universal, eternal human quest and aspiration, a movement towards Transcendence. *"Science, Conversation and Wholeness"* of Professor Mehta reflects over Western and Eastern pattern of science as modern Western science is intimately related to the matrix of Western Christian Civilization, while Eastern perspective of science refers to wisdom. Every thing in experience that can be objectified has to be brought within the orbit of science. Western science is culturally neutralized and universalized assuming an autonomous form of culture and which Heidegger calls it world-civilization. From the Eastern perspective the body of knowledge

constituting exact science can and should be disengaged from its historical, philosophical and religious underpinnings. In the realm of ideas, the encounter between East and West, as partners in a possible whole, has already taken place and been for long in process. It is now perhaps more appropriate, therefore, to speak of a conversation rather than an encounter. The parts are coming together, and talking together, giving rise to a possibility of an emergence of whole, a world community of speech. But a consequential part of any Western Indian conversation is bound to be unequal and in favour of the West. The next research paper is "*Bhakti in Philosophical Perspective*." It tries to settle the basic issues- 1. What it is that which is experienced in *Bhakti*. 2. There is the historical question of its gradual unfoldment and liberation from its entanglement with various other forms of religious experience into a pure autonomous and over-arching form of human religiousness. 3. We must not overlook the over-riding role played in both these by the principal religious text in giving form to such experiences, and beyond that theorizing about the nature and significance of *bhakti* in the life of *homo religious. Bhakti* represents man's primordial relationship to Being, a *rasa* in its own right, the supreme privilege of man's mortal estate and the ultimate refuge in his search for wholeness and for being healed. It helps us to understand the purpose of life by inculcating moral virtues. *"Krishna Dvaipâyana : Poet of Being and Becoming"* is the next research paper in which Professor Mehta observes that Krishna Dvaipâyana Vyâsa bears strange relations with his narrative and its characters, as well as with his readers. In this particular case, he is never present to the reader, never speaks directly to him, but always as reported, by virtue of his authority,

by someone else. He is present everywhere yet nowhere, who talks at such length of the world of Becoming and yet whose purpose is to convey the truth of Being, whose true home is in the realm of silence and withdrawn meditation. The primacy of *Dharma* in human living is the main subject of the Mahâbhârata. A close analytical study of the poem still remains to be made from *purus?ârtha* perspective, examining the intricate interrelationship amongst four values- *Dharma, Artha, Kâma and Moks?a.* A thorough study of the Mahâbhârata will exhibit how the various elements- the mythic and the sacred, the human and the ethical, the narrative and didactic form a coherent totality. It is to examine how human temporality is brought here into relation with the eternality of the divine.

In another thought provoking research paper *"Modernity and Tradition"*, Professor Mehta refers to Edward Shils' famous work *"The Intellectual between Tradition and Modernity : The Indian Situation"*, Milton Singer's *"When a Great Tradition Modernizes"* and W.C. Smith's *"Modernization of a Traditional Society."* Smith criticizes Westerners for value-judgments on non-Western cultures, without any attempt to understand them from within and ignoring their specific religious traditions, from a position of superiority. Modernity begins with a revolt against the authority of church, refers to rational scientific spirit, and it culminates into secularism and secularization of nature. Singer pointed out that the traditionalism of Indian civilization is not opposed to innovation and change, to modernity. The only difference in this two-sided, mutual participation is that from the Western end it is in the nature of supplementing the substance of their mainstream culture, an assimilation of the alien and subordinating it within

more widely based totality whereas from the non-Western, including Indian, the participation is an appropriation of the substance itself, not peripheral as in the Western case. For Smith to modernize need not mean adopting a Western model at all. There are genuine reasons, Smith says, why India can not just copy the West : because it is culturally, religiously and linguistically different from West. Hence, to be modern means to move in the direction of an increase in our awareness, so that possibilities open up, alternatives of choice emerge, where formerly we lived within a relatively closed horizon. The next article is *"Life-worlds, Sacrality and Interpretive Thinking."* The seminal concept of 'Life-world' (*Lebenswelt)* was introduced by Edmund Husserl in the *'The Crisis of European Science.'* It is valid in its own right, prior to all theoretical construction, and its truth is no longer viewed as only a pre-figuration of truth as objective. The task of phenomenology is to inquire as to how the life-world was constructed by transcendental subjectivity. Wilhelm Dilthey analysed the role of history in shaping the life-world, while Martin Heidegger and Max Scheler paid due attention to the religious dimension of our everyday experience in the life-world. In our present context, the recovery of the sacred for a common life-world, through conversation and creative linguistic construction, must take the form of more active 'conversation' with our sacred text, that is hermeneutical practice of interpretation and construction. The next essay is *"The Discourse of Violence in the Mahâbhârata"*. It is pointed out here that our problems, including those pertaining to violence within India or regarded globally, are new and their solutions too will have to be interpreted afresh and formulated in language which is acceptable

and meaningful today. The Mahâbhârata is a tale of unmitigated violence and yet its central message is that of non-violence and compassion being highest duties of man, states of being without which we fail to be completely human. Violence arises when we fail to inculcate these two virtues in our personality, and this is mainly due to one sided pursuit of wealth and possession (*artha*), of power over the means to satisfy our desires. It confirms the conception of *trivarga* in endless variations, and further supplements it with the discourse of *Moks?a*. 'Where there is *dharma*, there is victory' testifies to the basic moralizing impulse behind the discourse of violence in the Mahâbhârata. The central insight into the meaning of war and peace is provided by Krishna in his lecture to Yudhishthira, seeking to persuade him not to shirk his duty as a king even after the annihilation caused by the war, that *'mama'* (mine) is the two lettered death, *'na mama'* (not mine) is the three lettered eternal *Brahman*, both of which are within us, impelling us to fight. *"The Rigveda: Text and Interpretation"* is the last research paper. The phenomenological approach to the reading of the Rigveda is imperative for anyone who is a participant in the Indian philosophical and religious tradition. We find this approach for the first time in the philosophical writings of Martin Heidegger. This made Professor Mehta turn towards the Rigveda as a text constitutive of the very horizon of the traditional Indian way of experiencing life, and worth exploring it for its own sake as an *arche*-text. Hans Gadamer laid emphasis upon philosophical hermeneutics which recognizes the importance of interpretation as integral to all philosophical thinking. The philosophical literatures of Paul Ricoeur exhibit deep concern regarding the interpretation of myths and symbols.

Apart from the ritualistic interpretation of Rigvedic Samhita we find something new and important to say to us even in our altered world of thought and sensibility. Rigveda is strange text, unique and *suigeneris.* In its mode of being, it is in a sense revealed as well as revelatory and yet it is not scripture, not a book, in the ordinary sense of the term. Professor Mehta has tried to work out the limitations of Western Vedic scholarship in this fashion that in the interpretation of the Vedic text, it is not only religious and cultural anthropological prejudices that have been at play during two centuries of Western Vedic scholarship, but philosophical pre-suppositions too have wrought havoc through the unquestioning importation of Western conceptuality into another tradition.

Department of Philosophy Ewing Christian College,
Allahabad (U.P.)- India

Black page 98

SPECULATIVE METAPHYSICS IN A. K. CHATTERJEE

C. D. SEBASTIAN

Speculative metaphysics has always had its staunch proponents, though for three quarters of the twentieth century it was very much a marginal enterprise in philosophy. Even now the attitude towards speculative metaphysics among most philosophers remains the same with some sort of antipathy (Baynes *et al*, 1988).[1] Among the contemporary philosophers in India A. K. Chatterjee has always been an ardent thinker in speculative metaphysics. He has ever argued that non-speculative metaphysics is a contradiction in terms, as he vehemently says: "Metaphysics is thus essentially speculative. Non-speculative metaphysics is, as I see it, a contradiction in terms. It would have to be, per impossible, a scheme of concepts, involving no conceptual revision which I have called 'speculation.'" (Chatterjee, 1969: 4). Speculation is part and parcel of doing metaphysics in the rational scheme of A. K. Chatterjee.

A careful reading of the writings of Professor A. K. Chatterjee brings home the idea that *metaphysics* is one of his major concerns while doing philosophy. In his works one finds that there is a metaphysical home coming of A. K. Chatterjee, as "metaphysics is subjective, and (it) reveals the profoundest

truth about one's own being" (Chatterjee, 1971: 33). Further, though he said that the term *metaphysics* is, in a way, an "abuse of language" (Chatterjee, 1969: 5), the act that a philosopher does while doing metaphysics "is (a) spiritual home coming" (Chatterjee, 1976: 7). In this paper I trace out the most characteristic facets of A. K. Chatterjee's speculative metaphysics from his representative writings. Firstly, I present what is metaphysics for A. K. Chatterjee as it is more than the traditional characterization as an inquiry into 'being *qua* being.' Secondly, the metaphysics of language in A. K. Chatterjee, and thirdly, the metaphysics of three fold types of absolutism in Indian thought are explored. Fourthly, A. K. Chatterjee's take on metaphysics as metaphilosophy is briefly presented. Finally a summing of the paper is given.

More than an Account of Being *qua* Being: A Mystery rather than a Problem

It has been asserted that metaphysics has something to do with *being*. And this has been the foremost view in the history of philosophy. As it is said, metaphysics is an "attempt to provide an account of being *qua* being," (Loux, 2002: xi). But R. G. Collingwood had a different demeanour in this regard: "Metaphysics is not the science of pure Being, for there cannot be science, not even quasi-science of pure being" (Collingwood, 1998: 20). Similarly, contrary to the peer view, Chatterjee too had a different take on metaphysics. His metaphysics is enshrined in subjectivity, myth and even in mystery. Taking recourse to Gabriel Marcel, A. K. Chatterjee writes:

> The theory of being is not agnosticism, talking about absurd, unknown and unknowable. Marcel makes a

> profound distinction between problem and mystery. A problem is something one comes across, something elusive that blocks one's path; it is there in its entirety in front of me. A mystery on the other hand is something in which I am intensely and totally involved; its essence consists in not being entirely in front of me. It is as if in that region of difference between 'in me' and 'facing me' were to lose its meaning. The problem of being is, properly speaking, not a problem, but rather a mystery in this sense. Tillich describes the situation in a telling phrase: 'Being is the *aporia* of thought.'(*Aporia* is a beautiful Aristotelian word, translated by Ross as 'perplexity'). Being in the existential predicament is self-alienation, and the problem of philosophy is to restore to human consciousness the sense of participating in being, so that philosophy is a spiritual 'homecoming' (Chatterjee, 1976: 7).

There is a mystery in metaphysics. Even in the contemporary debates in the philosophy of mind, particularly on consciousness, which one sees as some sort of doing metaphysics with the notion of consciousness, highlight "an announcement of mystery" (Davies, 2005: 305-307). It is fascinating to fathom the philosophising on consciousness's mystery facet echoed by several philosophers including F. Jackson (Jackson, 1982 & 1986), T. Nagel (Nagel, 1986), and C. McGinn (McGinn, 1989). Nagel announced a mystery in consciousness, and McGinn went a step further by arguing that mystery is inevitable, and actual mystery remains.[2] "The mysteries that metaphysics uncovers are mysteries relative to ourselves and to our ability to understand things. Nothing is a

mystery in itself" (Inwagen, 1993: 200), for one knows it is a mystery, but at the same time it is something in which one is intensely and intimately involved in. For, "metaphysics is subjective" (Chatterjee, 1971: 33). It "reveals the profoundest truth about one's own being" (Chatterjee, 1971: 33).

As for A. K. Chatterjee, metaphysics is not just about the philosophising on 'being *as* being,' but it is much more than that. According to A. K. Chatterjee, a metaphysician sets himself at the centre of his world, and makes his own world. "Impelled by the unconscious stirrings in the depth of his being, the metaphysician fashions a 'world' out of his experience, a world that is peculiarly his, and is, and can be nobody else's, in order to fulfil some profound purpose of existence" (Chatterjee, 1971: 23). It is fascinating to see how A. K. Chatterjee brings the element of *subjectivity* in the entire scheme of doing metaphysics. According to him, metaphysics is nothing but an attempt to achieve a complete 'selfhood.' One's ego (self) finds itself as an alien among other things of the world. It feels as a 'thing' like other things of the world, for other things in the world are not of one's making, nor are they of one's choice. It has no other option, but to be with other things. The self (ego), in the face of other things of the world, can feel a sort of 'nothingness' which, in turn, can create a tension in itself. Then there arises a need - a need that is not physical, but metaphysical or spiritual – to remove the tension, just mentioned, and this is done by creating a world in which the self (or ego) would feel completely at home. He writes skilfully:

> The attempt to imagine such a world which would be sympathetically attuned to the self, which would be responsive to its inarticulate needs and aspirations, which

> would take away the nagging suspicion of being a 'non-person' (Unmensch) and restore to it its sense of identity and belongingness – such an attempt is metaphysics. Metaphysics is thus self-expression or self-fulfilment. Self is here to be understood, not in any absolutistic sense, not to be spelt with a capital 'S', but only as a reflexive particle. It refers to the alienated ego, desperately struggling to find an anchorage in reality. The metaphysician seeks to express him-*self* through his bizarre constructions, by imagining a World which would be his natural habitat. Selfhood that metaphysics strives to achieve is not something rigid and static, not still-born or a finished absolute, but something yet to be completed perhaps never completely attained – something to be fashioned out of the intensity of the experiences of loneliness, anguish and suffering (Chatterjee, 1971: 24).

In this sense, there is a tremendous possibility of alternative *selfhoods* that could be thought of and constructed speculatively in different systems of metaphysics.

If we leave aside 'self,' for time being, we could come across the next construct, that is, 'World.' The subjectivity and the world are interrelated. The "World" that a metaphysician speaks of, for that matter anyone, is a product of the metaphysical construction. 'World' is not a given fact. It is a metaphysical concept. The world, as we understand, "as a whole is the horizon of knowing in which the objects known are imbedded. But the 'World' is a metaphysical concept. The world itself is never known; what are known are things that belong to the world" (Chatterjee, 1976: 4). But when one knows a thing

in the world, that same epistemic process will enable him to know other things related to that one. A thing, *per se*, is never known in seclusion. It shall be known only in relation to other things in the world. A. K. Chatterjee explains it in this way:

> A thing is never known by itself in isolation, but only supported by other things. The thing known is certainly the focal point, but behind that there is a receding background but for the presence of which the thing would not stand out and be an object of knowledge. When I know a table, I am also dimly aware of there being other things besides the table, so that it is known as one thing amongst others. The table is the apex of a submerged base as it were. When I turn my attention to these other things, they in their own turn presuppose still other things, so that the final analysis the base of knowledge seems to be the entire world (Chatterjee, 1976: 4).

Thus, as A. K. Chatterjee has shown, if we analyse the speculative games we play while doing metaphysics, we come to the realization that doing metaphysics is purely subjective, and it eventually amounts to a myth. It is, in fact, not at all a rational enterprise on 'being *qua* being,' but it a puzzled mystery, and it is not a problem. This is "a stunningly novel idea we get from Chatterjee" (Boruah, 2011: 148) that calls for further creative enterprise in metaphysics for a contemporary Indian philosopher.

Metaphysics of Language

If one read carefully the succinct treatise of A. K. Chatterjee titled *Meaning, Use and Reference*, one gets a glimpse of his metaphysics of language. Over the past three

decades there have been several contributions on *metaphysics of language*. The focal point in such works is metaphysical issues concerning language, such as, ontological status and nature of language, linguistic meaning, texts, indeterminate predicates, and so on and so forth. Let us recall that "Quine and Wittgenstein see language as the philosopher's basic concern" (Katz, 1990: 13), and in the treatise of A. K. Chatterjee mentioned above, one finds that some three daces ago he had dealt with the same concern, in a way characteristic to him.

Words have meaning, and they are just merely abstractions. He says in this regard: "Since words are more conveniently manageable, we tend to take them as units of meaning, though words are as much abstractions as sentences are in the total speech act" (Chatterjee, 1982: 3). Further, in the paper mentioned he makes a subtle distinction between *knowing* and *understanding* when it comes to the meaning of words. He writes:

> Words are generally said to have meaning, and not sentences. We speak of understanding what is said and of knowing the meaning of words. We do not generally speak of 'understanding a word' or of 'knowing the meaning of what is said.' 'What does that sentence mean?' is an odd question, or is a somewhat special question. ... But generally sentences cannot be said to have or not to have a meaning. One cannot show or even try to show that two sentences differ in significance in the way one can show that two words differ in meaning. One can show that two sentences can differ in significance by showing that they have different syntactic structures, or that their constituents differ in meaning (Chatterjee, 1982:

3-4).

There have to be syntax and semantics for the use of language. Sentences have to be 'well-formed' (syntax) and have to say something (semantics). He further argues that *language does not consist of mere words or 'single' words*. It is fascinating to read the following explication of A. K. Chatterjee in this regard:

> A language does not consist however of single words. The utterance of a single word, say 'man,' does not *say* anything unless taken as an ellipsis of a whole utterance. Nor does even a string of morphological elements, each meaningful in itself, succeed in *saying* something. Any collection of meaningful words does not produce a significant sentence. It seems that a word has a logical shape into which another word with a particular shape alone can fit in, like several pieces of a zigsaw puzzle. Which words will go along with others is a matter of the syntactical structure of the sentence. Words may be acquired through learning but their logical shape and their mutual compatibility, or otherwise, is something which does not seem to have to be learned. This linguistic competence, as Chomsky calls it, seems to be an intuition, which may even be innate as he suggests. The logical shape of words is not articulated when they stand in isolation, but is made explicit only when they occur in the context of a complete sentence. This the real point underlying the theory of *anvitābhidhānavāda* as favoured by Prabhākara. Prabhākara does not mean, as the grammarians do, that words in isolation are meaningless. Indeed they do have meaning but that is not

> articulated outside the context of a sentence. Wittgenstein's echo (*Tr*. 3.3) of Frege's dictum 'Only in the context of sentence do words mean something' (*Foundations of Arithmetic*, Sec. 62) is simply a latter-day expression of *anvitābhidhānavāda* of the Guru school (Chatterjee, 1982: 4-5).

A. K. Chatterjee would further argue that *specifying the use of a sentence does not give its meaning*. One has to always make the distinction between the description of the use of a sentence and what is said by the user of that sentence. "There seems to be only one thing, viz., the declarative speech act and the what-is-said is a conceptually discernible aspects this linguistic event," and thus, "the intentionality of the speech act is imminent" (Chatterjee, 1982: 16). *Meaning*, in closely analysed, comprises both *sense* and *reference*. A. K. Chatterjee writes:

> Use theory, and its more sophisticated version, the speech act theory, would seem to ignore the very basis on which use is grounded, viz., meaning or sense, and cannot therefore serve to illumine the latter, though the theory does not help in dispelling the notion of an undimensional approach to analysis of language. Meaning is completed only in a complete speech act and is abstracted only from the latter, but there is core meaning of expression without which a speech act could not even occur. Taken out of its setting semantic theory produces a synchronic account of language, which is at best a fiction... Meaning and use, saying and what is said are therefore necessarily bipolar and they could be conflated only at the cost of

> obscurantism and obfuscation. Meaning itself comprises both sense and reference and sometimes the one is important, sometimes the other (Chatterjee, 1982: 18).

It is a flawed stance if one asserts that there could be *one and only one way* of expounding the meaning of words. "The way we map an area depends on the area and on our interests. So at one time we use one type of projection, and at another time another" (Chatterjee, 1982: 19). In the analysis of language, the metaphysics of language in A. K. Chatterjee, he argues that 'reference' has the most important position, and not 'use' or even 'sense.' That does not mean he is equating 'reference' with 'meaning' as all expressions are not referring. But "reference is rather the horizon or the background against which alone we can talk of meaningfulness of expressions. Without reference, language loses its anchorage in reality" (Chatterjee, 1982: 19), as the language interacts with the world only through reference.

Metaphysics in *Three Types of Absolutism*

A. K. Chatterjee in his *Types of Absolutism: Buddhist and Non-Buddhist* unravels and pinpoints the three types of absolutism in Indian philosophical inquiry (Chatterjee, 2008: 1-18). There are many types of absolutism in Indian thought, and Chatterjee makes it clear in this way:

> A striking feature of the philosophical scene in India is the plethora of absolutistic systems. The great Mahāyāna schools, Advaita Vedānta, the Various Tantric systems (both Buddhist as well as Hindu), different forms of Śaivism, even most of the Vaiṣṇava systems - they all claim, in one way or another, to be absolutistic. Scholars,

> who have been perplexed by this over-abundance, have generally taken two different lines of interpreting this phenomenon. Many scholars take these different systems to be merely variations on the same theme, so that their basic contention is essentially the same. Others have taken a partisan line, ranking one of them, say Advaita Vedanta, as the ultimate truth, while all others are explained away as being mistaken in some respect or other (Chatterjee, 2008: 1).

A. K. Chatterjee says it was K. C. Bhattacharya who took an original stand with regard to this problem of different types of absolutism, and visualized the possibility of there being *alternative forms of absolutism*. However, if Chatterjee could be taken correctly, K. C. Bhattacharya's demarcation of "different types of absolutism as 'truth', 'freedom' etc. remained very abstract and formal, not situated in any historical setting" (Chatterjee, 2008: 2). It was another daring thinker, T.R.V. Murti, following this stimulating lead of K. C. Bhattacharya, continued the analysis and identified the different forms of absolutism with different schools of Indian thought. Both these pioneers based their analysis on the three-fold distinction of subjective functions, namely, *knowing*, *feeling* and *willing*. A. K. Chatterjee would say that this splitting up of the functions of the mind is the well-known Faculty Psychology, so long prevalent in western thought. It has a time honoured ancestry, going back to Plato who distinguished between the *appetitive*, *spirited* and *rational* faculties of the soul. It was the dominant psychology of the middle Ages, reappearing in Kant's three Critiques where *truth*, *goodness* and *beauty* had their incredible place in Kant's scheme.

A. K. Chatterjee, for the first time in the contemporary Indian philosophical discourse, knowledgeably presents the contribution of K. C. Bhattacharya and T. R. V. Murti. He says that though the scheme of the western thought was adopted by both K. C. Bhattacharya and T. R. V. Murti, they made a significant adaptation. While Faculty Psychology had made a tripartite division of the mind, K. C. Bhattacharya and T. R. V. Murti rather thought of *knowing*, *willing* and *feeling* as different attitudes mind could adopt towards what is given to it. They saw, in their philosophical scheme, the subject-object duality as the basic epistemological relation, which could be construed in three mutually exclusive ways: *knowing*, *willing* and *feeling*. "It could be one of 'knowing' in which the only function of the subjective is to reveal the object as presented to it, or one of 'willing' in which the subject creates its own object, or again one of 'feeling' in which the subject and its object are evenly balanced, neither dominating over the other. Each of these three attitudes, when pressed to its logical culmination, yields a type of absolutism" (Chatterjee, 2008: 3). How do they become three types of absolute? A. K. Chatterjee makes it clear in this manner: "The three functions, as empirically available, are all mixed up, and this confusion of subjective functions, the result of *ajñāna*, produces illusion. When ignorance is dispelled, and each function is disentangled from the rest and is obtained in its purity, it is the Absolute" (Chatterjee, 2008: 4).

It is to the credit of A. K. Chatterjee, taking cue from K.C. Bhattacharya and T. R. V. Murti, that he identified the three types of absolutism in Indian thought which are based on knowing, willing and feeling faculties. He makes an expose of the three types of absolutism in his strikingly ingenuity by

pinpointing them as Advaita Vedanta, Vijñānavāda and Acintya Bhedābheda (the philosophy of Caitanya's School), as the paradigms of 'knowing', 'willing' and 'feeling' functions respectively. It is remarkable that he says that the Mādhyamika cannot be brought under this scheme of the types of absolutism. He says that "however, Śūnyavāda presents a great difficulty to this scheme as it cannot be taken as coordinate with any other speculative system. Being a non-positional analysis of all conceptual views, it cannot itself be understood as being at par with the views analysed" (Chatterjee, 2008: 5).

In the succinct paper we are discussing, A. K. Chatterjee has posed the question whether there could be a unified theory of absolutism in which its different forms could be situated. He answers it in negative as there are three subjective attitudes of knowing, willing and feeling operating in an exclusive manner. If there could be one that should be in a higher order consciousness, which shall be a critical insight, like that of the Mādhyamika. He says: "This awareness is a reflection on the theories of the Absolute, and is therefore, possible only in a higher-order consciousness. If it is a critical insight into how theories are constructed, it must be at a distance from the latter, as it takes up the theories themselves as objects of investigation" (Chatterjee, 2008: 16).

In musing over the types of absolutism and the way it is done, the speculative metaphysician in A. K. Chatterjee postulates that any theory-construction, in terms of making the types of absolutism, will have to go for a closer scrutiny. It is almost agreed that the theories could be considered as deductive structures. In this structure, the derivation would be the conjecture of a set of axioms where the basic terms would be

exactingly defined and definite rules of inference would be laid down, through which the rest of the system would come into view as a series of deductions. This sort of enterprise would give an explanation for the veracity of alternative systems, which would just be proposed in a different way. In such enterprise the disenchantment and disillusionment of the metaphysician would be a verity. A. K. Chatterjee explains it in this way:

> A metaphysician would not be, however, satisfied with such a depiction of his work. A metaphysical system lays claim to truth, and truth (if syntactical truth be excluded) cannot accept incompatible formulations. When two theories contradict each other, then one can either appeal to reason, or take the whole issue before the bar of experience. Now reason is neutral with regard to the conflicting systems. Self-consistency is the only criterion of validity, and so long as the rules of inference have been correctly employed, we would have a valid structure, however, unpalatable it might be to the opposite camp. One may seek to refute the opponent by convicting him of self-inconsistency, but the latter might well turn round, and do the same to the former. Thus the whole enterprise would appear to be a non sequitur. Mere logic does not decide between alternative, but mutually incompatible, deductive structures. Each is viable so long as it is internally coherent (Chatterjee, 2008: 17).

A. K. Chatterjee would say that when a predicament in incompatible theories of deductive structure arises the metaphysician might appeal to experience as the final arbiter of theories. It would be the experience that could decide whether

a fastidious system is acceptable. Whatever is not compatible with our experience is to be discarded out-and-out. He says:

> As Bhāmati puts it, not even hundred *śrutis* could make a pitcher a cloth. Along with reasoning, experience has been a weapon that the metaphysician wields in justification of his statements. Knowledge standpoint, for example, is not all deduction and argumentation. Adopting the approach through the knowing function of the subject, one arrives at the notion of 'isness' (*sattā* or *idantā*) that is the ground of the world-appearance. But this notion of Being is not merely an idle speculation, but is literally experiential (*anubhavāvasānatvāt brahmajñānasya*). Being is immediately intuited when illusion is dispelled, and this intuition is the subject matter of Upaniṣadic revelation (*tam tu aupaniṣadam puruṣam pṛcchāmi*) (Chatterjee, 2008: 17).

The *Willing* facet is the other one that goes to make the absolutism is the Yogācāra metaphysics in Indian thought. In this scheme, the difficulty is that, by adopting *will* point-of-view, one arrives at a radically different formulation of the ultimate reality as creative consciousness, and where the objective being is a falsification. As Chatterjee says:

> By undergoing certain yogic practices (Yogaācāra), reality is immediately intuited as *Pure Will* or *Pure Act*, after passing through several *bhūmis* and acquiring different *pāramitās* (*jñānam lokottaram ca yat*). So it seems that immediate experience also fails as the clincher, but this might be an over-statement. The conjecture might be hazarded that intuitive non-dual experience does not by itself favour any particular theory.

> Different theories arise when that experience, which has no content of its own, is sought to be articulated according to different metaphysical biases. Experience as theory-laden leads to the differences (Chatterjee, 2008: 16).

Thus the metaphysician realises that the fault does lie neither in logic nor in experience, but *in the conceptual apparatus that produces theories*. A. K. Chatterjee says that seen in such a way the theories themselves operate as coloured glasses, distorting our vision of reality. "Reality would thus be seen as transcending all theory-construction (*tatvamācchādya bālānām atatvam khyāti sarvataḥ*), as escaping all speculative approaches (*draṣṭavyam bhūtato bhūtam bhūtadarśī vimucyate*)" (Chatterjee, 2008: 17). Thus, one has to give up the attempt and enterprise approaching from the *knowledge standpoint*, or from the *will standpoint*, or *feeling standpoint*, or from any standpoint whatsoever. "The absolute is not to be identified with *pure Being*, or again with *pure Will* or anything to which reason can put a tag on (*buddheragocaram tatvam buddhiḥ samvṛtir ucyate*)" (Chatterjee, 2008: 17). All the constructive systems end strangely enough in denying their own initial standpoints. "The *knowing subject* is finally to lose itself, and ceases to be *knowing* even, when the distance between knowing and being is annulled. The *willing subject* so absorbs its creations into itself that it ceases to be willing, in as much as it wills nothing. So it is not very logical to burden them with identification marks which they are going to shed any way" (Chatterjee, 2008: 17).

There is an element of illusoriness, and that is rejected in such enterprises. "But if the illusory is to be rejected totally,

then nothing in that context deserves to be salvaged for serving as an identification tag to reality. Everything in the context of illusion is equally illusory (*sarvaśūnyatā*). This point of view sometimes appears in Advaita Vedānta too. The *Samkṣepaśārīraka* has a verse stating that only the illusory appears in illusion, and nothing else (*adhyastameva parisphurati bhrameṣu, nānyat kiñcit parisphurati bhrameṣu*), but that is obviously an overstatement. The orthodox position is that Brahman is the ultimate ground of all appearance, albeit as obscured and distorted" (Chatterjee, 2008: 18). If knowing, willing, and feeling are all to be discarded in a final non-dual experience (*aparokṣānubhūti* or *lokottara jñāna*), we need not have taken them as our starting point. They plainly disclose our metaphysical predilections, leading to alternative constructions (*dṛṣṭī*). These constructions confuse and mar our vision, producing fragmented, and to some extent, imaginary pictures that hide the totality of philosophic insight. When all approaches are discarded, that itself is the absolute as philosophic self-awareness (*prajñāpāramitā jñānamadvayam*). This is also an absolute non-dual experience, immediately intuited, but which does not carry the spurious identification labels. (*yadā na bhāvaḥ nābhāvaḥ mateḥ santiṣṭhate puraḥ. tadānyagatyabhāvena nirālambā praśāmyati*) (Chatterjee, 2008: 18). Here one comes up to the standpoint of the Mādhyamika, and it is possible only being a Mādhyamika. This is what one understands from the deconstruction that A. K. Chatterjee concocts in his speculation on types of absolutism.

Metaphysics as Metaphilosophy

All that we have seen above could be summarised as A.

K. Chatterjee's attempt in a speculative exercise in doing metaphysics is a metaphilosohy. I perceive a gargantuan influence of the Mādhyamika in his thought while doing philosophy. His method is also criticism, seeing systems by distancing himself from any particular system. A. K. Chatterjee would say that "criticism entails dialectical consciousness. Dialectic means, first, the awareness of the conflict in Reason, and secondly, an attempt to resolve it" (Chatterjee, 1989: 193) with the help of same reason. It is not an advocacy of any theory, but it is *praj*ñā itself. *Śūnyata* is not only the negation of all views, but it is *prajñâ*, the highest wisdom. *Śûnyatâ* is negative only for thought and reason, but it is itself the non-relative knowledge of *paramārtha*. "This insight has no content – i.e., its content is void. It is nonsensuous and nonconceptual, although it is rational in the sense that it is developed through a rational procedure" (Potter, 1991: 238). All assumption, rather realization, if one wants to say so, is possible only by the play of human reason and logic. And they are used to transcend reason (Pradhan, 2009: 71). It is a metaphilosophy.

The metaphilosophy is nothing but the Śûnyatâ of the Mâdhyamika. "The Mâdhyamika philosophy is correspondingly a philosophy of a higher order, and is characterizable only as metaphilosophy" (Chatterjee, 1973: 30). This way of looking at doing philosophy makes for a profound reorientation of our perspective on metaphysics. "The philosophy of Śûnyatâ is an invitation to do this type of metaphysical introspection. This introspective awareness is, at the same time freedom, it liberates the spirit from our narrow and dogmatic sectarianism, from the vicious and intolerant confines of subjectivity. This is metaphilosophy, speaking a meta-language" (Chatterjee, 1973: 31).

A. K. Chatterjee rules out the possibility of *descriptive metaphysics* as we encounter in P. F. Strawson (Strawson, 1959) or an *elimination of metaphysics* as we see in A. J. Ayer (Ayer, 1970),[3] but asserts that metaphysics is to be speculative through and through. Speculative metaphysician will not have any regard for the actually 'given.' The distinction between the 'given' and the 'not-given' involves metaphysical decision, that is, an ontology (Chatterjee, 1969: 4). A. K. Chatterjee would say that basing metaphysics solely on the 'given' without any speculative interpolation is a myth.

Summing Up

Having seen the speculative propensity in A. K. Chatterjee's metaphysical enterprise, let me go over the main point by stating that A. K. Chatterjee has been an original thinker from the Banaras School (by Banaras School I mean the philosophers who were centred around Banaras Hindu University's Centre of Advanced Studies in Philosophy) as far as contemporary (that is, recent) Indian *philosophising* is concerned. It is not an exaggeration to say that from his metaphysics, we get "a stunningly novel idea" (Boruah, 2011: 148). Let me quote Bijoy Boruah in this regard who, with reference to A. K. Chatterjee's two succinct treatises "Metaphysics, Subjectivity and Myth" and "Non-Speculative Metaphysics," writes:

> Chatterjee's depth-psychological interpretation of metaphysics is evidently most impressive and original. The thrust of the argument is acknowledgedly wedded to the Kierkegaardian dictum that 'truth is subjective.' Added to that is the expressivist character of the language of

> myth brilliantly expounded by Cassirer. Chatterjee imaginatively draws upon these two sources only to articulate his own conception of the peculiar way a metaphysician is intent on promising, through his work, the disclosure of the way things are – like revelation of reality. That he (metaphysician) keeps the promise no doubt, but actually ends up in self-revelation or disclosure of the way he 'envisions' his own self, is a stunningly novel idea we get from Chatterjee (Boruah, 2011: 148).

Thus, metaphysics is the prime concern of A. K. Chatterjee while doing philosophy and it is nothing but speculative, for the language of metaphysics is never used merely to describe. The language of such enterprise is expressive, seeing that doing metaphysics is the same activity of the *subject* (self) as that which produces poetry (Chatterjee, 1971: 33). For A. K. Chatterjee, metaphysics is subjective. It, *de facto*, reveals the inner most truth about one's *own* being, and it is not an enterprise of/on 'being *qua* being' that is out there. This paper is in continuation of what I have dealt with the metaphysical explorations of A. K. Chatterjee elsewhere (Sebastian, 2006: 1-13). And I would like to end with that "the *leitmotiv* of all that A. K. Chatterjee has written can be summarized in this quote from Candrakīrti: *Kalpanākṣayo hi nirvāṇam*, which means, 'the destruction of imagination (*kalpanā*) is *nirvāṇa*.' *Kalpanā,* indulging in constructive imagination, is metaphysics" (Sebastian, 2006: 9), and that indulgence in constrictive imagination is nothing but speculative metaphysics in A. K. Chatterjee.

Philosophy Group, Department of Humanities and Social Sciences IIT Bombay, Mumbai – 400076
<Sebastian@iitb.ac.in>

References

1. Our reference is to the anthology *After Philosophy: End or Transformation* (Bayne *et al*, 1988) that was meant assess current state of philosophy and the future of philosophy. Arran Gare writes in connection with this volume: "While containing reflections on philosophy of the leading philosophers of North America, Britain, France and Germany, and representing 'postanalytic' philosophy, poststructuralism, critical theory, and hermeneutics, the editors did not take speculative metaphysics seriously enough to allow even one voice to speak for it" (Gare, 1999: 127). This volume contains the papers by Rorty, Lyotard, Foucault, Derrida, Davidson, Dummet, Putnam, Apel., Habermas, Gadamar, Ricouer, MacIntyre, Bloomenberg and Taylor.
2. Let me explain it by quoting from Davies: "Jackson (1982), and McGinn 1989) claim that it should be intelligible to us that there may be much about the way that he world works that lies beyond our human understanding. McGinn (1989) develops this idea (building on the work of Chomsky (1975) and Fodor (1983) and advances an argument for the proposition that understanding how physical process give rise to consciousness – how it is that 'there is something that it is like, intrinsically, to undergo certain physical process – is beyond us. McGinn argues that, although the brain is the seat of consciousness in virtue of certain properties, what those properties are, and how they give rise to phenomenal consciousness, is beyond our cognitive grasp. Metaphysically, consciousness has a material basis; but epistemologically, we are doomed to be without an explanation of this. McGinn's argument for this prospect proceeds by considering in turn the ways in which we might hope to achieve a grasp of what it is about the brain that gives rise to consciousness" (Davies, 2005: 306).
3. Let us recall what A. J. Ayer wrote in his "The Elimination of Metaphysics": "the metaphysician does not intend to write nonsense. He lapses into it through being deceived by grammar, or through committing errors of reasoning, such as that which leads to the view that the sensible world is unreal" (Ayer, 1970: 414).

Bibliography

* Ayer, A. J. 1970. The Elimination of Metaphysics. In *Insight: A Rhetoric Read, ed.,* Emil Hurtik (Philadelphia: J. B. Lippincott Company).

* Baynes, Kenneth, James Bohman, and Thomas McCarthy (ed), 1988. *After Philosophy:*

* *End or Transformation ?* (Cambridge, MASS: MIT Press).

* Boruah, Bijoy H. 2011. Book Review: Ambika Datta Sharma and Sanjay Kumar Shukla (ed) – Defence of Metaphysics: India's Encounter with Logical Positivism. *Journal of Indian Council of Philosophical Research,* XXVIII (2): 141-150.

* Chatterjee, A. K. 1969. Non-speculative Metaphysics. *Ãnvīkṣikī: Research Bulletin of Centre of Advanced Studies in Philosophy, BHU,* II (1): 1-6.

* Chatterjee, A. K. 1971. Metaphysics, Subjectivity and Myth, in *The Indian Philosophy Congress* 45th Session, Hyderabad, Osmania University, 20-33.

* Chatterjee, A. K.. 1973. *Facets of Buddhist Thought* (Calcutta: Research Publications, Sanskrit College).

* Chatterjee, A. K. 1976. Modes of Being, *Indian Philosophical Annual*, Vol. XI, 1976,

* Madras, Dr. S. Radhakrishnan Institute for Advanced Study in Philosophy, University of Madras, 1-7.

* Chatterjee, A. K.. 1982. Meaning, Use and Reference. In *Religious Language and Other Papers*, N.S.S. Raman and K. N. Mishra, eds: 1-9. (Varanasi: Department of Philosophy, Banaras Hindu University).

* Chatterjee, A. K. 1987. *The Yogācāra Idealism*, (Delhi: Motilal Banarsidass Publishers).

* Chatterjee, A. K. 2008. Types of Absolutism: Buddhist and Non-Buddhist. In *Recent Researches in Buddhist Studies: Festchrift in Honour of Professor A. K. Chatterjee*, C. D. Sebastian, ed: 1-18 (Delhi: Sri Satguru Publications).

* Collingwood, R. G. 1998. *An Essay on Metaphysics*, Rex Martin, ed (Oxford: Clarendon Press).

* Davies, Martin. 2005. The Philosophy of Mind. In *Philosophy: A Guide Through the Subject*, Vol. 1.,A. C. Grayling, ed: 250-335 (Oxford: Oxford University Press).

* Gare, Arran, 1999. Speculative Metaphysics and the Future of Philosophy: The Contemporary Relevance of Whitehead's Defence of Speculative Metaphysics. *Australasian Journal of Philosophy*, 77 (2): 127-145.

* Inwagen, Peter van. 1993. *Metaphysics*. (Oxford: Oxford University Press).

* Jackson, F. 1982. Epiphenomenal Qualia, *Philosophical Quarterly*, 32: 127-136.

* Jackson, F. 1986. What Mary didn't Know, *Journal of Philosophy*, 83: 291-295.

* Katz, Jerrold J. 1990. *The Metaphysics of Meaning* (Cambridge, Mass: The MIT Press).

* Loux, Michael J. 2002. *Metaphysics* (London: Routledge).

* McGinn, C. 1989. Can we solve the Mind-Body Problem?, *Mind*, 98: 349-366.

* Nagel, T. 1986. *The View from Nowhere* (Oxford: Oxford University Press).

* Pradhan, R. C. 2009. *Metaphysics*, Utkal Studies in Philosophy - 26 (Bhubaneswar: Centre of Advanced Studies in Philosophy, Utkal University).

* Potter, Karl H. 1991. *Presuppositions of India's Philosophies* (Delhi: Motilal Banarsidass Publishers).

* Sebastian, C. D. 2006. Metaphysics, Metalanguage and A. K. Chatterjee: A Mādhyamika Critique. *Indian Philosophical Quarterly*, XXXIII (1), 1-13.

* Strawson, P. F. 1959. *Individuals: An Essay in Descriptive Metaphysics* (London: University Paperbacks).

***

REASON AND BEYOND REASON: NÂGÂRJUNA'S METAPHYSICS OFÚŪNYATÂ AND ITS CONTEMPORARY RELEVANCE

R.C. PRADHAN

In this paper an attempt is made to examine the philosophical contributions of Nâgârjuna, the great Buddhist philosopher. The system of Mâdhayamika philosophy which he expounded has a lasting influence on Indian Philosophy in general and the Buddhist philosophy in particular. He not only established a new school of philosophy called Œūnyavâda within the Buddhist fold but also established the supremacy of the dialectical method in philosophy. His analytical critique of the concepts of self, causality, action, freedom nirvâṇa, etc. has been unparalleled in the history of philosophy. Some of the key features of Nâgârjuna's Mâdhyamika philosophy are (1) the idea of œūnyatâ, (2) the dialectical method, (3) the notion of Two Truths and (4) the limits of thoughts and language. Some of these ideas are relevant in the modern times when philosophy has turned to language and mind in its understanding of self and the world. Nâgârjuna's way of thinking as a dialectical exercise may appeal to the post- modern mind because there is a resonance of his anti-essentialist approach to language, mind and the world. Thus Nâgârjuna's philosophy is relevant to our times not only in terms of its metaphysics of essencelesseness

and relativity, but also for its ethics of compassion and universal brotherhood which follows from his anti-rationalist and anti-substantialist standpoint. Nâgârjuna's no-theory approach has deep resonance in the contemporary way of thinking revolving around the denunciation of the supremacy of reason and rationalism.

1. NÂGÂRJUNA'S ANTI-ESSENTIALISM

Nâgârjuna's strongest position in metaphysics is his rejection of all essences in language, thought and reality. Every concept or idea whether about the self or the world is an empty symbol, according to him. His dictum is : everything is empty (sarvamœūnyam)[1] which means that there is nothing eternal (úâúvata) a about anything. Everything is conditioned (pratityasamutpâda) because there is an unceasing chain of conditions passing from one temporal stage to another. Mâdhaymika philosophy of Nâgârjuna derives its anti-essentialism from the Buddhist doctrine of conditional existence of the phenomenal world.

Nâgârjuna highlights the fact that there is no essential nature of reality or the world. The essential nature of the world would have implied the reality of eternal principles underlying all existence including the existence of the individual human beings. This is the theory of eternalism[2] which Nâgârjuna rejects as a great stumbling on the way to the understanding of truth. The theory of no soul which has been the cornerstone of Buddhism is interpreted by Nâgârjuna as the theory of essencelessness (niḥsvabhâvavâda). The denial of the essential nature of the self is a case in point which has been variously interpreted by the commentators. But the ideas of anti-

essentialism is very relevant from the contemporary point of view because such an idea carries the message of a new approach to self and the world.[3] G.C. Nayak writes : 'I consider the philosophical enterprise of Nâgârjuna and Candrakīrti to be a unique one consisting of enlightenment through a typical analysis of concepts culminating in the realization of essencelessness (niḥsvabhâvatâ) of all dharmas, of everything and every concept for that matter leaving the conventional truth to take care of itself in its own sphere as lokasamvṛti satya vis-a vis paramârtha satya. It is Neither Nihilism or a theory of absolute void in the literal sense, nor is it a Vedântic absoltism in disguise'.[4]

The ideas of the absence of svabhâva is central to the Buddhist thought and therefore it has far reaching implication for contemporary philosophy so for as the latter is facing the challenges to the age-old idea of a fixed and stable universe and equally fixed and permanent self. The Buddhist ideas of Self and the world are in consonance with some of the ideas which are dominant in the post-modern and post-metaphysical thought of our times.

2ŒŪNYAVÂDA AS NON-NIHILISTIC

The most important challenge to Nâgârjuna has been the attribution of nihilism to his philosophical theory of œūnyatâ. It has been the contention of the absolutists and the essentialists among metaphysicians that Nâgârjuna is a nihilist who denies the reality of everything. His Mūlamâdhyamika Kârikâ has been interpreted as a text on the universal denial of the world, causality, the soul and its freedom. Thus it has been contended that there is nothing which is real and true in Nâgârjuna's scheme of things. But this interpretation of Nâgârjuna fails to

take into account of his philosophical standpoint about reality. Œūnyatâ is the word he uses for characterizing reality. Œūnyatâ literally means emptiness of void having no content. But the way Nâgârjuna develops his dialectical reasoning suggests that he does not assert or deny realty. He denies that there is any eternal reality in the self or the world. But at the same time he does not deny the contingent reality of the world. He rejects annihilitationism (ucchedvâda).[5] In the light of this one can say with Stcherbatsky: 'There is not a single thing in the world which is unconditionally, absolutely real. Everything is related to, contingent upon, conditioned by something else'.[6]

This reading of the œūnyatâ reflects Nâgârjuna's intention to celebrate the pratityasamutpâda as œūnyam (yaḥ pratityasamutpâda œūnyatâm tâm prackṣamahe).[7] Whatever else may be implied by œūnyatâ, it necessarily means the absence of absoluteness about anything. In Stcherbatsky's words: The world œūnya can be translated by 'relative or contingent' and the term œūnyatâ by 'relativity or contingency'. The entire Mahayana literature goes to show that the term œūnya is a synonym of dependent existence (pratityasamutpâda) and means not something 'void', but something 'devoid' of independent reality (svabhâvaœūnya). Œūnya has two implications, viz. (1) that nothing short of the whole possesses independent reality (2) and that the whole forbids every formulation by concept or speech (niṣprapañca).[8]

Thus there is no reason to suppose that Nâgârjuna could be a nihilist in the usual sense of the term. Denial of the absolute reality of anything that is phenomenal and contingent is not a case of nihilism. Any form of absoulte denial of reality itself is rejected by Nâgârjuna. Not only the absolute affirmation

of reality but also the absolute denial of reality is an anathema to Nâgârjuna. He is neither an absolutist nor a nihilist in the usual sense of the term.

3. THE TWO TYPES OF TRUTH: SAMVṚTI SATYA AND PARAMÂRTHA SATYA

Nâgârjuna's theory of two Truths has a great relevance not only for Mâdhaymaika, but also for philosophy in general because it shows the way how we can approach reality. The idea of two Truths has its origin in the metaphysical traditions of the East as well as the West. It is because reality itself has many sides, namely the phenomenal as well as the non-phenomenal. The phenomenal reality is related to how the knower knows reality and the non-phenomenal is the reality in itself. This is how Kant made a distinction between the phenomenon and the noumenon.[9] But his concern was basically epistemological. However, Nâgârjuna's distinction is metaphysical for the reason that for him what is phenomenal truth or samvṛti satya is conditional in nature and is dependent on other phenomenal realty. He admits another Truth which he calls the Paramârtha Satya because the feels that such a Truth is needed for understanding the nature of reality. The phenomenal reality is not subject to the law of dependent origination and so it starts on its own. Nâgârjuna's Paramârtha Satya could be called transcendent Truth precisely because it is one that defies thought and language and is beyond the empirical reality of space, time and causality. T.R.V. Murti explains this in the following passage: 'Paramârtha Satya or Absolute Truth is the knowledge of the real as it is without any distortion (âkṛtim-vastu-rūpam). Categories of thought and points of view distort

the real. The paramârtha is the utter absence of the function of Reason (buddhi) which is therefore equated with samvṛti. The Absolute truth is beyond the scope of discursive though, language and empirical objectivity; and conversely, the object of these is samvṛti satya. It is said: " The paramârtha in fact is the unutterable (anabhilâpya), the unthinkable, the unteachable, etc".[10]

In T.R.V. Murti's characterization the paramârtha satya is beyond the limits of thought and language. This brings out the positive theory of there being a reality that is not graspable by the discursive thought and language. In a sense, it is beyond what Reason can grasp. This dual view of reality is logical precisely because there is a reality which we all of us can grasp in terms of our categories like space, time, causality, identity and continuity, but the unconditioned reality is bound to be beyond these categories. The latter is paramârtha precisely for that reason. It is also called the Ṭathtâ or bhūta-koti, dharmatâ, dharmadhâtu and œūnyatâ[11] in different contexts. These characterizations all point to the fact that the paramârtha has a distinct meaning in the sense that it indicates a reality that is not dependent on anything other than itself. On the contrary, the samvṛti satya remains an empirical reality that is (1) describable in conventional terms, (2) is relative and contingent in nature and above all (3) is concerning the Ioka-vyavahâra.[12] If the empirical world of common sense is samvṛti staya, then it is logically the case that the paramârtha cannot be the empirical and conventional reality; it must stand outside the boundary of the empirical reality that is relative and contingent. Such a contingent and dependent reality, though œūnya, is not a nothingness. It is the reality as suchness or Ṭathtâ the defies

all kinds of categorization. It is not an ontological nothingness or non-being, because to say it is non-being is equally logically unavailable just as it is to be called being. Both being and non-being, finite and infinite, limited and unlimited cannot be applied to the parmârtha satya.

Nâgârjuna's radical departure from both the metaphysics of both being and non-being shows that he is non-committal on the nature of reality because he thinks reality in itself which is Ṭathtâ remains beyond our descriptive categories. The contingent reality is very much a part of our conceptual scheme, but that which is the reality as such must remain beyond these categories. This makes Nâgârjuna posit the non-conceptualizable reality that is the limit of our thought and language and of the phenomenal reality. There is therefore justification for holding that the reality beyond thought and language is paramârtha or transcendental in nature.

4. BEYOND ALL DRSTIS OR STANDPOINTS

Another aspect of Nâgârjuna's theory of Truth and Reality is his commitment to the dismantling of all dṛṣtis (sardvadṛṣti-prahaṇâya).[13] The dṛṣtis are the ways we view reality or satya. Nâgârjuna believes that these points of view are based on our language and thought and therefore they can give rise to a relative truth rather than an absolute truth. Our conceptual schemes make the truth relative and so the dṛṣtis are tied down to smvṛti satya only. Thus the standpoints are the source of illusion and lack of knowledge of reality. The real knowledge lies beyond all dṛṣtis; hence the call for the deconstruction of all views or dṛṣtis. Nâgârjuna's argument is dialectical in nature because he shows that in logic and language there are only

drstis and therein is the storehouse of categories. There are at best four drstis which are offered by standard logic. They are (1) “Is real” (asti), (2) “is Nor real” (nâsti), (3) “ both real and unreal” (asti ca nâsti ca) and (4) “Neither real nor unreal” (na asti ca nâsti ca). Thus our logical thoughts encounter fourfold possibilities of thought or judgment about reality. All these possibilities are exhausted by logic and hence hey have the function of limiting the reality. Nâgârjuna holds the view that all metaphysical school have accepted one of these views regarding reality. He thinks that the paramârtha staya is beyond these fourfold ways of making judgment about reality. This is the reason why Nâgârjuna brings an end to the logical way of apprehending reality.

Logic, as Nâgârjuna conceives it, is of a dialectical nature that moves from one judgment to another all the time keeping the contradiction at the centre of the reasoning. Dialectic is the reasoning by contradiction, that is, to show how a particular form of argument leads to contradiction. Nâgârjuna’s aim is to disprove an existing argument and not to offer a new one. In that sense, he demolishes all standpoints (drstis) without offering a standpoint of his own. This method is also called the method of reduction ad absurdum or the prâsaṅgika method. It is of unquestionable importance that Nâgârjuna adopts this method of reasoning because his is to do away with existing thought-structures rather than offer a new one. This is the method of deconstruction which has been used by Wittgenstein[14] and many other post-modern thinkers. The essence of this method is to dissolve philosophical problems rather than solve them. In this method there Is Truth which is beyond the limits of language and thought but Truth can reveal

itself only when language and thought are themselves dissolved into silence. Nâgârjuna is the pioneer of this dialectical method which has been useful in philosophy since long. Dialectical logic is not nihilistic and destructive in the usual sense of the term. It is constructive in the sense that it promises to arrive at Truth that is beyond the limits of Reason. In the words of T.R.V. Murti: The Mâdhyamika dialectic tries to remove the conflict inherent in Reason by rejecting both the opposites taken singly or in combination... Rejection of all views is the rejection of the competence of Reason to comprehend reality. The real is transcendent to thought. Rejection of views is not based on any positive grounds or the acceptance of another view; it is solely based on the inner contradiction implicit in each view. The function of the Mâdhaymika dialectic ,on the logical level, is purely negative, analytic.[15] Thus this is a fair representation of the dialectic of Nâgârjuna as the Mâdhyamika thinker. This shows the way logical reasoning brings out its own limitations. Beyond logic, reality is the suchness, the Truth self-revealing. The denial of the supremacy of reason and logic is an evidence of the fact that for Nâgârjuna, the logical way of thinking has limitations and that philosophy must turn to dialectics as the instrument of demolishing the pretensions of Reason. However, the negative dialectics of Nâgârjuna does not descend into nihilism and the denial of all knowledge of Truth.

5. PRAJÑÂ OR TRANSCENDENTAL KNOWLEDGE

It is well known that prajñâ is the highest knowledge sought by Nâgârjuna as the culmination of the dialectically rigorous Buddhist philosophy. It is in prajñâ that the ultimate realization of Truth is possible. Prajñâ is the realization of

œūnyatâ, that is, the essencelessness of everything. As T.R.V. Murti says: 'It is the contention of the Mâdhyamikas that the final release is possible only through œūnyatâ by the giving up of all views, standpoints or predicaments.'[16] What is of immense importance is the way the Buddhist nirvâṇa is defined as the result of prajñâ , the transcendental knowledge of œūnyatâ. When the Truth of the œūnyatâ is grasped there is the dawn of the supreme wisdom called prajñâ . Therefore nirvâṇa and prajñâ go together.

Nirvâṇa has been characterized in many different ways: some say it is the state of emptiness and some say it is the state of awakening. It is in fact the state of awakening because Buddhism aims at a state of human knowledge that defies all categories of language and thought. Therefore it is called the state which is "the non-born, the non-become, the non-created, the non-compounded".[17] Nirvâṇa is always characterized in negative terms since it cannot be expressed in language as language fails to express it. For that matter it is not a mysterious state of the mind, because it is the state one realizes in one's own being. Even then it is described as "beyond all suffering and change, as unfading, still, undecaying, taintless, as peace and blissful. It is an island, the shelter, the refuse and the goal".[18] What matters most in this connection is the way the state of nirvâṇa is expressed and not the fact that there is such a state of awakening which is beyond doubt. There is no doubt that such a state exists, but it is the case that it defies all linguistic expression. It is in any case the end of suffering and the release from the state of bondage. Nirvâṇa could not mean a state of nothingness because in that case it will deny the Buddhists the way of a release from the samsâra and the cycle

of birth and death. It is in the state of nirvâṇa that the way of Buddhist eight-fold sâdhana gets fulfilled. Be that as it may, it does indicate that nirvâṇa is the highest state of prajñâ and the state of perfect peace and wisdom.

Nâgârjuna as a Mâdhyamika thinker could hardly disregard the possibility of prajñâ or transcendental knowledge of reality because it is the fulcrum around which Buddhism as a philosophy and religion revolves. Prajñâ as the highest wisdom reveals the true nature of reality as œūnya such that man ceaseless to cling to the phenomenal reality and gets emancipated from it. No amount of negative characterizations of nirvâṇa can take away the fact that it is the final result of prajñâ as the highest wisdom. Any contemporary reading of nirvâṇa and prajñâ can deny the relevance of this concept for a true Buddhist life.

6. NIRVÂṆA AND SAMSÂRA

In this connection it is relevant to understand the relation between nirvâṇa and samsâra in Nâgârjuna's philosophy as he has declared that nirvâṇa and samsâra are the same. In his words:

Na samsârasya nirvâṇât kimcidasti viœeṣaṇam
Na nirvâṇasya samsârât kimcidasti viœeṣaṇam.[19]

This means that there is nothing that distinguishes the samsâra from nirvâṇa and vice versa. That is, in a sense, samsâra and nirvâṇa mean the same. This statement can be interpreted in many ways. The most acceptable way could be that what is samsâra from the empirical (smavṛti) point view, is nirvâṇa from the transcendental (paramârtha) point of view. That is to say, there are no two ontological realities called samsâra and nirvâṇa. What is samsâra from one point of view is nirvâṇa

from another point of view. Nâgârjuna's point of view is clear: there is no ontological duality between the conditioned or the samvṛti satya and the unconditioned or the paramârtha satya. It is how we see the reality. If we see it as conditioned, then it is the samsâra in which we are involved due to ignorance. But if we see it as the unconditioned reality, we are released from bondage and suffering. But then the question arises, is all a matter of subjective perception that the reality appears as conditioned from one point of view and unconditioned from another point of view? It is not really a matter of subjective choice. It is deeply embedded in the way we see reality itself. The samsâra is the reality that is dissolved ultimately in nirvâṇa. So ultimately one reality prevails. That is the final Truth and that is the Reality that one realizes. In any case, it is a matter of realization and not merely of subjective choice. In the words of T.R.V. Murti : The absolute is the only real; it is identical with phenomena. The difference between the two is epistemic—subjective and not real. In full accord with this, Nâgârjuna declares that there is not least difference between the Absolute and the universe.[20] Nâgârjuna's Kârikâ, XXV, 9 says to this effect that "the Universe viewed as a whole is the Absolute, viewed as a process is the phenomenal".[21] What is clear is the fact that smasâra and nirvâṇa, though have different meanings, yet ontologically they refer to the same reality.

Nâgârjuna's insight into the nature of reality has revealed that the gulf between the smasâra and the nirvâṇa is the gulf between the ignorant and the wise, between the unawakened and awakened. The highest wisdom or Bodhi makes us the awakened and we get to nirvâṇa only in the state of awakening. The ontological identity of samsâra and nirvâṇa a goes towards

dispelling the idea that nirvâṇa is a new reality that is very distinct from the reality of the samsâra. The ultimate burden of the identity lies in what we realize in the state of awakening and not on what appears to the ignorant mind. Nâgârjuna is perceptive enough to find out the ultimate Truth about reality by denying the duality of samsâra and nirvâṇa.

7. NÂGÂRJUNA: THE SPIRITUAL AND THE MORAL TEACHER

Nâgârjuna will be always looked upon as the spiritual teacher of the world after the Buddha himself. His greatest message is the message of the Tathâgata or the Enlightened which consists in the attainment of the Bodhisattvahood. The ideal of the Bodhisattva is the ideal spiritual being and this ideal is the great contribution of the Mahayana philosophy. The Bodhisattva embodies in himself the spiritual perfection (prajñâ pâramitâ) and is the embodiment of karuṇâ or compassion. In the words of Venkata Ramanan: 'Cultivating the perfection of wisdom, the bodhisattva sees everywhere all things as œūnya, sees that even œūnya is œūnya. At this time all the determinate modes of knowing become extinct and he realizes the unimpeded perfect wisdom'.[22] This wisdom is the greatest gift of Nâgârjuna to mankind. It not only presents the highest ideal of spiritual life, but of the highest moral ideal which can unite the entire mankind in the pursuit of karuṇâ or universal love.

The contemporary relevance of Nâgârjuna lies in how his spiritual message could be made available to the suffering humanity. The present world is in a deep spiritual crisis, It needs the healing touch of Buddhism and Nâgârjuna's moral and spiritual philosophy. The moral and spiritual vision of

Nâgârjuna's philosophy of śūnyatâ can take us on the path of liberation from the world of suffering and spiritual sickness. Nâgârjuna has been viewed as a great philosopher for the reason that he has made the message of the Buddha come alive in his works- the message of prajñâ and karuṇâ and spread it across the length and breadth of the world. The greatest tribute that we can pay to Nâgârjuna is by imbibing his spirit of inquiry and reasoning in all matters relating to the nature of man and the universe. He not only applied rigorously the method of reasoning but also went beyond the boundary of logic and reason to discover the ultimate Truth. He has shown the world the pathway to the ultimate Truth beyond the limits of thought and language.

Retired Professor, Department of Philosoophy,
University of Hyderabad, Hyderabad-500 046

References :

1. See,Nâgârjuna, Mūlamâdhyamika Kârikâ, trans. David J. Kalupahana (Motilal Banarasidass, Delhi,1991).
2. Ibid.
3. Ibid. The emphasis on anti-essentialism is the underlying theme of Nâgârjuna's philosophy since it rejects all kinds of essentialist thought in philosophy.
4. G.C.Nayak, Mâdhaymika Śūnyata: A Reappraisal (ICPR, New Delhi, 2001), pp. 7-8.
5. Ibid.
6. Th.Stcherbatsky, The Conception of Buddhist nirvâṇa (Motilal Banarasidass, Delhi, 1977), p.38.
7. Nâgârjuna, Mūlamâdhyamika Kârikâ, XXIV, 18.
8. Stcherbatsky, The Conception of Buddhist Nirvâṇa, p.70.

9. See Kant, The Critique of Pure Reason, trans. N.K.Smith (Macmillan, London, 1929) for a discussion on the phenomenon-noumenon distinction.
10. T.R.V.Murti, The Central Philosophy of Buddhism (George Allen and Unwin, London, 1955; Fourth Impression, 1974), p. 244.
11. Ibid., pp. 245-246.
12. Ibid., p. 244.
13. Nâgârjuna, Mūlamâdhyamika Kârikâ, XXVII, 30.
14. Cf. Wittgenstein, Philosophical Investigations, trans. G.E.M Anscombe (Blackwell, Oxford, 1953).
15. Murti, T.R.V. The Central Philosophy of Buddhism, p. 128.
16. Ibid., p. 269.
17. Ibid., p. 271.
18. Ibid., p. 271.
19. Nâgârjuna, Mūlamâdhyamika Kârikâ, XXV, 19.
20. Murti, T.R.V. The Central Philosophy of Buddhism, p.233.
21. Ibid., p.233.
22. Venkata Ramanan, Nâgârjuna's Philosophy: As Presented in Mahâ-Prajñâ -Pâramitâ-Úâstra (Motilal Banarasidass, Delhi, 1975), Page - 303

Black page 138

VALUE CRISES AND THE FIFTH PILLAR RESPONSE

DEBASHIS GUHA

Keywords

Globalization, Ethical Crises, Resolution of value crises, Democratic set up and people's ethical enterprise.

Summary

In our times, in India, owing to intensification of complex group relations, relations across cultures through the porous borders and interactions among the ecological communities are creating a deadly soup of value crises, a slippery slope rundown to undesirable limbo. One such moral rundown is with the advent of economic globalization in our democracy. However, there is stiff moral disagreement in this regard. Many among us will not buy the idea that economic globalization is heading through a slippery slope to an unethical state. Hence, the issue is not merely a practical problem. It is rather a value laden practical problem as it raises unavoidable moral debate regarding ought, right, just, good,

desirability, duty and obligation. If economic globalization awaits a cogent resolution to moral impasse, nitty-gritty of social engineering should take care of a Fifth Pillar Response in our democracy. The paper deals with the method for such moral resolution in and with peoples participating in what may be called a civil citizens' moral enterprise because they enjoy Moral Right to value resolution to aid social engineering nitty-gritty's.

Introduction:

History is testimony to the truth that human societies have been thoroughly under moral stress, at times acute and unbearable though stress is never to be caressed than cured - moral stress is caressed by the advanced psychopaths of society. We were and we are under moral stress in the vale of ecological communities owing to several factors, environmental, biological, medical, educational, social, political, business, trade and commerce, economic and cultural. These stresses have unique features awaiting different sets of moral scanning or pro-con moral debates before formulation, implementation, safeguard or protection and communication and education of laws, rules and regulations in different democratic societies. The morally charged practical problem is what I call, "value-laden practical problem." It should be noted that being value-laden is a not subjective valuation. We do not put a weight or value all by our own predilection. Rather practical problems of life and world are judged or weighted for their unique feature, most of the time unnoticed (even deliberately), which is the aspect of

"worthwhile-ness" or "value", in this case their "moral worth" or "moral value". Very often than not this unique and unavoidable feature of practical problems of life and world awaits discovery or interpretation, the basic hermeneutics of explicating the moral value related features of stiff practical problems. If careful rational explication that does not lose sight of logic of explication, it does find out with ease what *ought to be given what is*, the case, thus giving a good run to the old fashioned dichotomy nourished by some thinkers. One way for discovery of value laden feature of practical problems of life and *world* (take it as *eco-community*), is to logically inquire into or *push through nitty-gritty oriented* (you may prefer, *hard positivistic*) inquiries. This is to ask for cogent replies to 'why' questions and if *not* the final or end but unique replies obtained will be "moral replies" or replies anchored to moral or ethical arguments most likely to raise ethical storm of disagreement, often calming down to agreement. The practical problem of globalization is for me, one such "value-laden practical problem" for pushing through 'why' it ought or should be preferred than *not* or it ought *not* to be preferred than it ought to be. It thus involves us inextricably (not finally), with the nitty-gritty type 'what' and 'how' questions. Let us then come to the problem itself as a typical value crisis in modern times in our democracy and then find out the Fifth Pillar Response to it.

Slippery slope to ethical pitfalls:

Human development cannot be mucked, not at any cost by individuals, groups, organizations and the state power because human freedom cannot be denied at whim. If development is related to freedom, 'an entitlement to capacity building process'

(Amartya Sen, 2004)[1], human progress cannot be denied as well. But freedom cannot be free wish, it is, as Plato and Aristotle recognized, *prohairesis* (will) than *boulesis* (wish)[2], the individual and group fanfare ethos cannot be allowed for the touted freedom to develop and for that matter, progress. Yet, needless to profess that our egotism is part of our cultures, if not nature, wish does not leave us to blur its boundary and transgress in the realm of freedom. Then we are in a slippery slope of ethical rundown for sure in an unethical limbo. Before that fall, we can and we ought to do something. But how to do things with the ethical acumen we have? This is the moot issue, and I proceed with this.

The first step to ethical crisis through the flight of wishful development and progress in the name of globalization is the maintenance as well as widening of the yawning chasm between rich and poor worldwide. This is inter and intra phenomena within the countries where our glorious civil citizens live. This is not an imaginary talk, economists and politicians around the globe recognize this as a blatant truth, data banks and graphs cannot veil it. The available current United Nations Development Programme (UNDP) Reports can be obtained for a ready reference of the said truth. Craig Gary and Marjorie Mayo in their edited work (1995)[3] and Aswini K. Ray in his paper (1996)[4] have argued that globalization championing contemporary states have a Chimera nature; a demonic one of the North and a bled to white one of the South, causing much concern in this so much so hyped globalizing world to block the demon through dialogue than either playing a shy bride or a maverick post-colonial democracy of the South. John Raply (1996)[5] argued that the so-called welfare states of the post-

colonial South often fail to protect their citizens from the onslaughts of aggressive open market forces and multinationals with crisp money of elusive nature. However, thinkers like R.O. Keohane (1998)[6] blunt the charge by saying that in fact, the IMF and the WTO actually play pariah to the endangered economies. The fear for the regional disparities and economic inequalities in the Third World are true, says John Echeverri Gent (1997)[7] because globalization develop areas for free trade in big countries like India by pushing FDIs, global commodity chains and changing the face of economic strategies. All in all, through the slope we find an ethical crisis - world divide by means of economic chauvinism creating cultural catastrophe and latent strife.

This is not all globalization has been long glossed as savior of the outsmarted population worldwide because it solves basic human rights. However, the *informants* of globalization in the world today is difficult to shut down and with it is difficult to suppress a truth that rampant human rights violations are noticed widespread in countries like India, most notably in the form of abject exploitation of tribes, common men, workforce and even natural resources. Communication, the holy grail of globalization, has bluntly communicated these truths to us. The North sponsored human rights regime has in fact, generated fresh areas of human rights abuse in the South. This is another face of the ethical pitfall.

The same communication pariah has revealed the truth that globalization is a paradoxical phenomenon whether economic or political or cultural, it enshrines great values of capitalist at the cost of crushing other values at will. One such corrosion of values caused cunningly by Northerners is weakening of the

basis of democratic governance by nailing it down to go along wishful structural reforms and petty politics. We are thus in hand withdrawal and curtailment of a number of welfare measures because welfare states find themselves bankrupt but try to cling to the political glib of the welfare ideal for petty gains. This is a state crisis, a crisis of ethical values of a welfare state. This has been effectively stated by Malcolm Waters (1995) in these words: "In the third quarter of the twentieth century the corporate welfare state hit a multiple and widely recognized crisis. The response to this multiple crisis was a process of state weakening many states stopped providing welfare in certain areas. The crisis of the state contributes to the reflexivity of globalization.[8] Globalization thus leads to an unethical arm twisting politics passed by the capitalists to have definite stronghold over global capital on the one hand and putting strategies like disinvestment in the name of an already 'bankrupt' welfare state, burdensome bureaucracy and weak labour market. Yet, the income gap between rich and poor is yawning. Interestingly, the 'global village maker communication system' has enabled backward citizens of third world countries to take emergent measures and migrate in large number to put a 'dollar chain' for fancy but the rich hosts of global villages were not interested much to embrace these 'cheap labors' now and passed hegemonic laws to block mass immigration. These are the double unethical faces of the globalization fancy hosts - globalization buck has been thus more often than not passed to us for rampant exploitation and creating a unipolar bourgeoisie market.

Maiti (1997) aptly says that the unethicality is to "reduce the global economy to an exclusivist power arrangement that draws on McDonaldization/ Coca-Colonization or the cultural

homogenization.'[9] Whether or not a smart citizenization, a bizarre notion be added to this will soon start storm over cups of tea. Even our Ganga-Yamuni big culture is making merry with McDonaldization and Coca-Colonization, another step may be a smart city. Cultural attacks with global capital have created havoc at many places in India. We have witnessed it in Orissa, Chotanagpur and other places. With capitalists come diseases of the sick mindset; some ethical cure is needed urgently.

Much has been said about the economic, social and cultural slippery slopes leading to an unethical trap. Globalization for me is a political slope leading to the same trap because the autocratic mindset of the rich assures systematic failure of human rights, workers right, right to welfare, non-exploitation of domestic markets and resources and in these ways, control over a sovereign nature, in our case, a democracy. The global order that is seen as an example of global brotherhood and camaraderie has turned out to be grabbing a free polity and human rights. Now more than ever the global companies, even the domestic companies act parallel as state do to influence policies and control workforce and people of a nation and major economic decision making. Rights are violated even when the corporate attacks on human right to protest against exploitation and when people are imposed alien culture, uprooted from their perennial abodes, left with ecological catastrophe and give us a huge number of 'environmental refugees'.[10] Disrespect to people's aspirations, environment and welfare priorities of the government by means of economic terrorism is essentially unethical. The terrorism is so threatening that global companies risk the law of the land believing that they will be protected in the name of development.

There are at least four important aspects of globalization bereft of value based conception of economic development which is amenable to ethical criticism. First is *classism* or discrimination of a class of economic actors as favored than others who are deprived as economic actors? Second are atrocities against workforce, particularly the unorganized and unskilled ones. Next are attacks on tribes and rural population owing to setting up of large production units. Finally, environment disaster without micro environmental management. I close this grim unethical picture with a few words of Pan Yue, the Vice-Minister of China's State Environmental Protection and Administration: "We believed that economic development would solve all our problems. In the reform period, this misreading of Marx morphed into an unrestrained pursuit of material gain devoid of morality. Traditional Chinese culture, with its emphasis on harmony between human beings and native, was thrown aside. As a result China's economy is dominated by resource hungry and inefficient polluters."[11] I put these words here as we envy China's global march to greatness but we need not - China is already in haze, it has given up slowly to capitalist hegemony. Should we follow them? If not, what can be done to resolve moral crisis we face with the advent of globalization of economy, polity, communication and culture?

The need for a Fifth Pillar Response:

Resolution of ethical crises emerging in the context of globalization discussed above needs a *Fifth Pillar* response, the one that in and with four other pillars of democracy can be really effective. This fifth pillar, I prefer to call "ethical activism of civil citizens," for a value based political system and

governance. It is more of another civil rights movement but a civil citizens' movement for resolution of stiff value-laden practical problems to be correct. Globalization, it has been argued, raises stiff practical issues for us but we must not lose sight of its 'value aspect', that is, the way the practical problem is closely related to the problems of value or what may be simply called, 'value crises'. The nature of value-laden practical problems is such that without finding out what 'ought' to be done, a viable resolution that is thought to be pragmatic enough, is really not so. A cool consideration of whether what is imagined to be of practical value is ethically permissible or not is of crucial importance. Once we consider globalization of economy is at all ethically grounded (for *ethical reasons* that we have), we hit the bull's eye because globalization is not a drab existential problem, and it is a problem anchored to ethic of unique course of decision making and action at the ground level of reality. Hence, we call for globalization of economy, polity, cultures but not trash it only if it has a *humane face* or ethical basis.

Inquiry into the nature of a practical problem that is value-laden backed up by concrete measures for resolution is not a class based enterprise, that is, cannot and should not be dumped on the four pillars of democracy. It cannot be dumped on the organs of government of any political set up for that matter, whether it be democracy as we have in India or elsewhere. People's ethical activism is thus *universalizable* model for value resolution irrespective of political super structures. But we need to know the intricacies of this method or model for value resolution. There are, I believe, two models for value resolution of crisis related to globalization or many

other crises in store for us. One is *acting-at-a-distance model* and the other, which I prefer is, *acting-in-and-with people model*. The first may be called the model of 'power tracking' or 'moral chauvinism' or 'patriarchal', whereas the latter may be called a 'feminist' model with solid h*ermeneutical* support.

The feminist model is not feminine or gendered model because it refuses to accept the first one, the andocentric model and does not replace it by gynocentrism. Simply stated, in the first model people concerned with or directly/ indirectly related to the crises of globalization are kept in abeyance at the margin for their moral perception of what ought to be done before directly entering into the nitty-gritty of things to be done. In the other model, people is at the centre and intellectualist hegemony at the margin but not the intellectuals because urge is that these people who are empowered for the nitty-gritty at ground level of reality moves in and with the concerned parties or parties who face the brunt of globalization to *share* in a moral enterprise. This is possible in a unique way of *hermeneutic discovery* of the untold and unmanifest people's *moral perceptions* about globalization, not in a totalistic fashion but as required in parts (for instance, the cultural aspect or any other). This is backed up by *moral dialogues and debates* as extensive and intensive as practicable to come to *moral consensus* that may not be thought as finalistic but fairly well as working cue to finally shape up the 'things to be done' and pass on to the empowered pillars for a law, its implementation, protection and communication. This is then a global issue taken in a *local* way for its unique cultural identity. "Local" resolution to globalization in the way of civil citizens' moral enterprise is one best not the only way we have. This is however, an *ethical*

activism of sharing platform with social scientific back ups, which is entering into the realm of post-modern method of ethical application that is corroborative, hermeneutically oriented and dipped in feminist ethos.

The Fifth Pillar Response:

First, we have to understand the role of corroboration or inter-subjective corroboration involved in this response. Inter-subjective corroboration is a model for ethical application that develops the non-deductive, non-chauvinist model advanced by J.C. Callahan in his essay "Applied ethics" in P.H. Werhane & R.E. Freeman (Eds.), *The Blackwell Encyclopedia of Philosophy,* Blackwell, 1997.

This non deductive ethical application is largely anti-theoretical or anti-normative in nature which is supported by A.L. Caplan and Alasdair McIntyre who think that deductivism and normativism in ethical application is mechanical, artificial, chauvinist and power-tracking by ethicists. However, I found that non-normative model should be further developed into ethical activism that is clearly pronounced and that the goal of the same is clearly understood. This resulted into "inter-subjective corroboration" that considers resolution of *value-laden* practical problems in association with the most concerned people facing these problems through a moral dialogue based on well researched moral questionnaire to come to corroboration of our moral views. Though, Callahan and others were reluctant to "go back to theory," I found that a "post-corroboration analytic task" completes the model of ethical application that is not power-tracking. This analytic work must be left to the ethicists who have important social and academic responsibilities to

discover the "normative theories" in moral discourses. This project the dynamics of normative theories in theory non-co-opted discourse situation. All these factors are basic to an understanding of inter-subjective corroboration as application of ethics.

Inter-subjective corroboration demands "multidisciplinary" involvement on the part of ethicists because the moral discourses which are held with theory non-obsessed people for value-resolution are wide-ranging in nature. They cover a number of scientific (positive and social), as well as non-scientific (such as aesthetic), value-laden practical problems involving a number of people of various disciplines. A corroborator on the one hand is expected to have first hand or basic knowledge of a value-laden practical issue under consideration and on the other analyze moral debates.

Inter-subjective corroboration is expected to take up a "social scientific vocation" as well, meaning thereby an ethical activism in and with people of different occupations and professions in the changing social, political, economic scenario that demands clearly laid out steps for the said activism. The steps are in the main, social scientific in nature, that is, to have first hand experience of what people think about value-laden cases to identify concerned parties with regard to these cases who are expected to thrash out value resolution for social well being. Further to find out how questionnaires that are ethically oriented or that brings out moral opinions of concerned parties regarding moral issues, should be constructed inviting these people for well moderated moral dialogue, reaching a moral consensus and forming morally charged decision making cues for the social good.

Further, in applied ethical parlance hermeneutic turn or transformation is in the main an attitudinal transformation on the part of the corroborator primarily and on the part of the participants secondarily. This is to say that primarily the corroborators (trained persons taking up moral resolution), rather than nurturing the attitude of theory-churning for application shows a more mature attitude to experience, understand, interact and interpret moral perceptions or intuitions of people or participants in moral discourses aimed at resolution of moral crises. Secondarily, a mature attitude on the part of the participants is noticed, who, being invited for dialogues, are ready not to nurture rudiments of their moralities or social/ cultural dogmas but experience, understand and interpret considered moral evaluations or criticism of dogmas as well. In this way, first of all applied ethical hermeneutics is to interpret and evaluate considered moral perceptions of concerned parties coming for moral resolution despite their moralities and dogmas, which nevertheless, they report and reflect on but do not adhere to as sacred moral truths. Further, applied ethical hermeneutics is interpretation and evaluation of the dynamics of moral theses that leads to consensual formulation of principles or cues for moral decision making and functioning at the social level. The first turn is noted in what I call, "empirical enrichment", whereas, the second turn is noted in "empirical sensitivity" in hermeneutic application of ethics.

Empirical enrichment no doubt begins with the attitude of "declassing" and corroborating but that is not enough. A declassed corroborator has to gather information from various sources (for which multidisciplinary interest is needed); to find out the group or groups of people who are the most concerned

parties for a moral resolution. Hence, empirical enrichment is needed at the point of influences on group or groups in social milieu for gathering further information on *what* and *how* of the "influences'. Enrichment is then at two points to start with. First, empirical content needs to be enriched at the level of "problem in consideration" in the general and contextual forms. For example, primary general enrichment is knowledge/ experience about what exactly globalization aim at. Further moving to the more specific or 'contextual' enrichment, we need information regarding the local environment, needs of local people, and the socio-cultural, economic, political features of the locale. Another aspect of empirical enrichment is what factors influence *whom* and *how* generally and specifically when globalization is intended. This takes us to the general influence on ecology and humans by such decisions and more specifically the unique features of the globalization itself (that is its the extent and intent in Indian mixed economy scenario with urge to open up and the way it influences or might influence local people, groups, cultures, economy and environment). All these enrichments enable us to carefully find out most concerned parties for moral resolution — those with whom first we need to mingle to experience and learn for their moral perceptions so that a *non-structuralist questionnaire based debate* might resolve the issue. Empirical enrichment allows us to understand and interpret not only group-moralities for shaping questions, they enable us to select the most concerned people with regard to moral resolution who have to be interviewed, studied for their group-specific conduct, and invited for participating in value-resolution. Hence, selection of parties for dialogue depends on empirical enrichment by asking simple

questions such as, *who* is affected by *whom* and in *what ways?* The interpretation of the "ways" in which people are affected is vital to the shaping of moral questions because it tells us clearly why some practical problems are not starkly practical rather *value-laden*. Empirical enrichment thus allows "interpretation of *value-ladenness*". This comes through our experience as moral beings in the ecological community. Value-ladenness is not a whimsical input by intellectuals (read ethicists), rather, it is empirically anchored. From our common experience and knowledge of facts we find that some facts are not starkly positivistic, they are value-laden. It is our experience that tells us why some issues do not stop troubling our moral intuitions by getting simple scientific replies. We thus strive for different scientific or non-technical explanations. For example we find that by globalizing Indian economy, welfare of the Diaspora is not satisfactory until we find that the touted welfare is itself questionable on moral grounds we have. We need to ask what the moral desirability is, what is good, right and just in globalizing Indian economy by an aggressive open market policy, despite the physical welfare of humans? Is it morally good to disturb the mixed economy's pro-people strategies and environment of this otherwise tranquil state for physical welfare of some people? Hence, to start from people is the best way for moral resolution because it gives us an idea of value-ladenness of practical problems - empirical enrichment is thus "a source of morality". When we say this we are not saying that mind has no role to play in moral intuitions. Value consideration on moral matter is very much mental, but it is anchored to our common experience, we only stress that mental manipulation with ethical theories is not the source of morality.

Empirical enrichment is not merely a source of morality; it is useful in "extension or widening of questions". In one way, empirical enrichment allows interpretation of *deep* moral questions rather than *shallow* ones and enables us to delve *deeper* in moral intuitions of the public by taking up uncovered but relevant moral questions. Shallow question is like, what effect of food chains from abroad will be on our population one? Deep one is like, what effect will multinational companies have on our domestic companies? Deeper question is like, what effect will economic liberalization leave on our culture/ways of life? It is important to learn through public interaction that some questions that were expected to cover almost all value-related aspects are not that sweeping. Rather, some covered questions may be shallow or superficial than deep or searching in nature. At times, the shallow questions are dogmatic and should give way to deep questions which bring out the needed moral perceptions of particular groups related to decision making. For instance, a moral imbroglio might unnecessarily prolong a moral debate on globalization if we consider the issue of cozying up with one or the other multinationals and related economic corruption including the red-tape tangle. No doubt, these issues raise serious moral questions but a careful empirical inquiry and interpretation of public perception reveals that deeper moral questions cover these relatively petty issues. Deeper questions emerge when we relate man and nature, human life and social life, and when we relate man, nature and culture. If we neglect deeper questions, our moral debates are not rich by virtue of empirical enrichment. This gives us a clear idea that in applying ethics, empirical enrichment on the part of study of cultures and anthropological, social, geological political

inputs are extremely important. Equally important are study and interpretation of institutional and psychological factors influencing group concerned with moral impasse. Clearly, the emotive/ attitudinal aspects and institutional influences cannot and should not be left out if non-structuralist questions need to be framed for a peer pressure free or non-structuralist moral debate.

It is important to note that a hermeneutic turn in application of ethics is not blind to the study and interpretation of the actual *reasoning patterns* of the most concerned parties. Unless a corroboration dialogue cares for actual moral opinions and patterns of moral reasoning by mingling with the public, a sound questionnaire for moral debate that sidesteps a fixed pattern of official ethical theory centrism and thus structuralism is not possible. It is therefore odd to believe that for empirical enrichment all but opinions and reasons have to be studied. This is not to say that ethicists' structuralist work has to be replaced by non-ethicist's structuralist work thus forcibly ousting official normative knowledge. We only stress on the fact that official normative analysis should return at the *post-corroboration stage* when "empirical sensitivity" is felt urgently after enrichment. The *return to theory*, a major *academically valuable* normative work is extremely important but not for structuring questions or for moderation of debates. Equally true is that a study and interpretation of moral opinions and moral reasons of public at the early stages of application is not to pass the buck of structuring, rather to care for the common sense morality that becomes a source for deep level moral inquiry. The element of care for common men, their cultures, emotive and moral opinions and reasons make ethical

hermeneutics non-patriarchal in essence. I believe it is heading for a "feminist transformation" as well.

One has to keep in mind that "care" with regard to the moral judgments of common men in cases of value-crises is nothing but a declassed approach on the part of the corroborator who has shunned theory chauvinism and is ready to learn about the moral experiences of common men to enrich his or her moral questionnaire for better moral dialogue. This "care" for the considered moral opinions of the public turns out to be paternalistic in nature when the corroborator is a mere pretender or cunning or, when the corroborator is championing androcentric care. In that case, it is fairly simple to find out "care" and "pseudo-care". Our experiences in the society are testimony to this demarcation made by common man. Equally true is that pseudo-care is easily noticed in social life in so-called gynocentrism. Where mother's pretending care is shown for masses that are in reality holding on to female-power and subjugation of another sex, it is equally unethical. In fact, imposters of care, whether andro or gyno-centred care, are on the same boat on two counts - both are power-trackers, and both are theory manipulators. A "feminist transformation" in ethical application has to avoid the dangers of pseudo-care on both counts. Only in that case, a gender-neutral, non-power tracking and non-theory centric "care" emerges in us, where considered moral opinions are embraced. The embracing of common moral opinions for the furtherance of moral dialogues is not "uncritical" or "dogmatic". An able corroborator prepares empirically rich questions for moral debates keeping his critical mind open so that a number of unwanted information can be carefully avoided. Care does not mean care for anything and

every thing that has been gathered. Only relevant information constructs a morally sound questionnaire for moral debate. Doing this is far from being structuralist because incorporating unwanted information, mostly of scientific nature or of the nitty-gritty type or about the vectors of cultural dogmas is not practically useful at the stage of moral debate. A corroborator thus does not structure questions at whims, he or she should be careful about the *relevant* considered moral perception of common men.

Hermeneutic application of ethics is careful about "empirical sensitivity". I take this expression uniquely to mean our care and steadfast commitment towards applying what we gather out of empirical enrichment. It is important to build non-structuralist questions for debate after careful empirical study and interpretation. It is equally important to make it act on ground levels of reality. This way we are 'sensitive' towards our enrichment. We believe a way out of moral impasse in a Socratic dialogue where ethicist Socrates had the absolutely valid normative say, has to be replaced by basic care for what others say. A dialogue, if well-moderated as said before, is not a clatter, it is a body of well-reasoned debate where common moral experience flows freely. In doing so, moral dogmas, contradictions, undesirable or flawed opinions and reasons are interpreted and carefully discarded by the parties (ethicists are perhaps very good at this work when they are joined by parties ready to be rational). This way moral beings transcend and transverse moral intuitions and come to a moral consensus, which is never final (as said before). Can this be the end of value-resolution? Not in the least because glaring insensitivity is marked on our part with regard to our empirical enrichment

and moral powers to transcend and transverse moral knowledge. The end or closure and arrival at consensus, is to search for *decision-making principles* and inquire about their *function*. The public has not merely to show us how moral trifles are solved, they have to give us suggestions regarding what should be done and in what ways so that common man's aspiration towards the organs of government is unambiguously spelt out. It is important to note that empirical sensitivity does not give us first principles of morality, rather provides some broad and subsidiary cues for moral decision making and functioning. These are then the rules for practice which are tentative, depending on greater hermeneutic study in an ever changing socio-political and economic scenario.

The application of ethics is yet not complete because empirical enrichment has enabled us to be equally sensitive towards the discovery of moral theories in function — the theories well known to us as standard normative theories or even those new to us. These theories do not drop from the sky; they are abstractions of some brilliant minds that contributed to academic ethical knowledge since a long time. Our sensitivity towards these theories is sensitivity to interpret common moral opinions and reasons dynamic in corroboration debates. It is always academically valuable to discover that dynamic ethical discourses give us a vast body of theses for moral scrutiny or moral justification. It is always important at the "post-corroboration" stage to return to a theoretical analytic work to find out that theories are not handmaidens of intellectual manipulation, they are not instruments for moral engineering, rather, application of these theories are always noticed in the public if basic care for such a dynamics exists. It is unwise on

the part of the ethicist not to return to the theoretical analytic and show basic sensitivity towards what they had painstakingly taken up in a social-scientific vocation so needed for ethical application, that is, empirical enrichment. Application of ethics has thus taken a hermeneutic turn which two aspects of non-structuralist ethical application have clarified beyond doubt. For me, the application of ethics in this way has moved a long way from patriarchal model of ethical application and is heading for a feminist application of ethics. Now we have to see how "care" and "closeness" can face the challenge of the "limit" put of ethical application and thus justify that a feminist ethical hermeneutics is best placed to dispel latent doubts of intellectualism and chauvinism on the part of ethicists.

The spirit of anti-theoreticism in ethical application is well marked in feminist perception of ethics. Here we come to the feminist ethos in which our response is deeply immersed. Virginia Held remarks: "Many feminist philosophers have questioned whether the reliance on abstract rules, rather than context respectful approaches, can possibly be adequate for dealing with moral problems".[12] Dispelling the sex bias of feminism, she thinks that a gender neutral approach to moral problems should be the one that does not overlooked the moral experience of women and men. The experience of women as I read it, may be uniquely contributing to the enrichment of our moral understanding of a value related case because it "lead us to be especially concerned with actual relationships between embodied persons, and with what these relationships seem to require. Women are often inclined to attend to rather than dismiss the particularities of the context in which moral problem arises. And we often pay attention to feelings of

empathy and caring to suggest what we ought to do rather than relying on abstract rules of reason."[13] What I was stressing on with regard to hermeneutic turn in the application of ethics is better understood with regard to unique moral orientation of women in terms of "relationships" and "feelings of empathy and care". I would like to assert that gender-neutrality and women orientation goes together because the latter is a "non-sexual call" for me, that is, a call that does not belong to female sex, any sex can display it as respect for human relationships, and empathy and care. They are not sex-biased calls of feminists. It is asserted that a little care for women moral experiences reveal that irrespective of sexes, one can and should show respect for human relationships, social camaraderie, respect for common moral experiences, and emotive features needed earnestly for moral resolution. Empathy and care are thus basic to an application of ethics that is hermeneutic. No doubt, it is wiser to be "reasonably emotional" than championing case by case approaches and overreaching normative reasoning or paradigmatic reasoning or equilibrium of moral opinions through normative reflections.

Conclusion

The Fifth Pillar Response to the value-crisis of globalization thus ends up in feminist transformation of ethics, that is, a stepping stone to transform anti-theory movement to a return to theory and to transform deductive-structuralist application of ethics to the hermeneutic application in which empirical anchor in application is continuously strengthened. A feminist approach in ethical application is the next logical step after ethical corroboration and hermeneutics has established

itself with force. We understand that in a more or less sound democratic step up hermeneutic application can work but instances of many mature democracies, has shown beyond doubt that differently politically motivated people (who are self proclaimed saviors of ordinary citizens because only they have the needed camaraderie, care and empathy), are best suited for moral resolution. But they would not go for any superficial process of social reconstruction such as moral resolution because an aspect of Cultural Revolution should wait for a total political revolution (not always through ballot). This may be partially true for a failing or failed democracy which never saw a complete political revolution through any justifiable and desirable means. But we have seen political revolution of some kind at least whether that is soft or not soft or even total or complete. The problem is that despite having a democratic set up, a well framed constitution and numerous touted ballot based revolutions, the organs of the government have refrained from a change of patriarchal mind set. The demands of hermeneutic and feminist calls have entered no ears. The tragedy is attitudinal; we are not relying on the better option of being "reasonably emotional" at an epoch in our history. A democratic revolution is to shake patriarchal mind set, and patriarchal rules, governance, welfare, polity, justice and economy at their roots. It is really at our level and at the level of the constitution that patriarchy must be living like a demon under a glossy cover. Only a radical change at these levels can eradicate the rest of skepticism that rightly points towards a mere intellectualism of ethical application bereft of uprooting patriarchy at important areas in our civil societies.

University of Allahabad, Allahabad

References :

1. Sen, Amartya, "Elements of a Theory of Human Rights", *Philosophy and Public Affairs*, Vol. 32(4), 2004.
2. Making a distinction of 'wish' and 'will', *boluses* and *prohairesis* is well noted in Plato's : *The Republic*, (English Translation), F.M. Cornford, OUP, NY, 1982, and Aristotle's : *The Nicomachean Ethics*, (English Translation), J.A.K. Thomson, Penguin, Baltimore, 1966.
3. Gary, Craig and Marjorie Mayo (Eds.), *Community Empowerment: A Reader in Participation and Development*, Zed Book, London, 1995.
4. Ray, Aswini K., "Democratic Rights in a Post-Colonial Democracy". I am indebted to Prasenjit Maiti, *Development Ethics*, Concept Publishing Company, New Delhi, 1997.
5. Repley, John, *Understanding Development: Theory and Practice in the Third World*, Lynn - Rienner, Colorado, 1996.
6. Keohane, R.O. in *Foreign Policy*, Spring, 1998. I am indebted for this discussion to Prasenjit Maiti, *Development Ethics, op. cit*.
7. For details, Prasenjit Maiti, *Development Ethics, op.cit.*
8. Waters, Malcolm, *Globalization*, Routledge, NY, 1995.
9. Maiti, Prasenjit, *Development Ethics, op.cit*. p. 156.
10. See the discussion in details in my work: *Environmental Ethics, Vol. 2, Practical and Professional Ethics* (Series), Concept Publishing Company, New Delhi, 2007.
11. Yue, Pan, "Tipping Point" in *The Times of India*, Patna Edition, 02.12.2006.
12. Held, Virginia, "Feminist Transformations of Moral Theory" in S.M. Cahn and P. Markie (Eds.), *Ethics: History, Theory and Contemporary Issues*, O.U.P., Oxford 1998, p. 687.
13. Ibid, p. 688.

LORD MAHAVIR AND JAINA VALUE-EDUCATION

MUKUL RAJ MEHTA

Lord Mahavir was the twenty fourth and last Tirthankara of the Jaina religion of this era. According to Jaina philosophy, all Tirthankaras were human beings but they have attained a state of perfection or enlightenment through meditation and self-realization. They are the Gods of Jainas. The concept of God as a creator, protector, and destroyer of the universe does not exist in Jainism. Also the idea of God's reincarnation as a human being to destroy the demons is not accepted in Jainism . Lord Mahavir was born on the thirteenth day of rising moon of Chaitra month, 599 B.C. in the state of Bihar, India. This day falls in the month of April as per English calendar. His birthday is celebrated as Mahavir Jayanti day.

Mahavir was a prince and was given the name Vardhaman by his parents. Being son of a king, he had many worldly pleasures, comforts, and services at his command. But at the age of thirty, he left his family and royal household, gave up his worldly possessions, and become a monk in search of a solution to eliminate pain, sorrow, and sufferings. Mahavir spent the next twelve and half years in deep silence and meditation to conquer his desires, feelings, and attachments. He carefully avoided harming or annoying other living beings including animals, birds, and plants. He also went without food for long

periods. He was calm and peaceful against all unbearable hardships that he was given the name Mahavir, meaning very brave and courageous. During this period, his spiritual powers fully developed and at the end he realized perfect perception, knowledge, power, and bliss. This realization is known as keval jnana or the perfect enlightenment.

Mahavir spent the next thirty years traveling on bare foot around India preaching to the people the eternal truth he realized. The ultimate objective of his teaching is how one can attain total freedom from the cycle of birth, life, pain, misery, and death, and achieve the permanent blissful state of one's self. This is also known as liberation, nirvana, absolute freedom, or Moksha. Mahavir explained that from eternity, every living being (soul) due to its ignorance is in bondage of karmic atoms. Then these karmic atoms are continuously accumulated by our good or bad deeds. Under the influence of karma, the soul is habituated to seek pleasures in materialistic belongings and possessions. This is the deep-rooted cause of self-centered violent thoughts, deeds, anger, hatred, greed, and such other vices. These result in further accumulation of karmas. Mahavir preached that right faith (samyak darshana), right knowledge (samyak jnana), and right conduct (samyak charitra) together is the real path to attain the liberation from karmic matter of one's self.

FIVE GREAT VOWS OF RIGHT CONDUCT : At the heart of right conduct for Jains lie the **five great vows**:Non-violence (Ahimsa) not to cause harm to any living beings . Truthfulness (Satya) to speak the harmless truth only. Non stealing (Asteya) not to take anything not properly given . Chastity (Brahmacharya) not to indulge in sensual pleasure .

Non possession/ Non attachment (Aparigraha) complete detachment from people, places, and material things .

Five Great Vows (Maha vratas) of Ascetics :

Right knowledge, right faith, and right conduct are the three most essentials for attaining liberation in Jainism. In order to acquire these, one must observe the five great vows:

1. Non violence – Ahimsa 2.Truth – Satya 3. Non stealing Achaurya or Asteya 4. Celibacy/Chastity – Brahmacharya 5. Non attachment/Non possession Aparigraha

Non-Violence (Ahimsa) : Among these five vows, non violence (Ahimsa) is the cardinal principle of Jainism and hence it is known as the cornerstone of Jainism. Non violence is the supreme religion (Ahimsa parmo dharma). It is repeatedly said in Jain literature; "Do not injure, abuse, oppress, enslave, insult, torment, torture, or kill any creature or living being. "According to Jainism all living beings, irrespective of their size, shape, or different spiritual developments are equal. No living being has a right to harm, injure, or kill any other living being, including animals, insects, and plants. Every living being has a right to exist and it is necessary to live with every other living being in perfect harmony and peace. Nonviolence in Jainism is not a negative virtue. It is based upon the positive quality of universal love and compassion. One who is actuated by this ideal cannot be indifferent to the suffering of others. Violence of every type should be completely forbidden. Mental tortures by way of harsh words, actions, and any type of bodily injuries should also be avoided. Even thinking evil of some one is considered violence in Jainism. Practically, it is impossible to survive without killing or injuring some of the smallest living beings.

Some lives are killed even when we breathe, drink water, or eat food. Therefore, Jainism says that minimum killing of the lowest form of life should be our ideal for survival.

It is more painful if a life of the higher forms (more than one sense) is killed. Hence Jainism allows laypeople to use only vegetables as a food for survival. All non vegetarian food is made by killing living beings with two or more senses. Therefore, Jainism preaches strict vegetarianism, and prohibits non vegetarian foods. Jainism explains that violence is not defined by actual harm, for this may be unintentional. It is the intention to harm, the absence of compassion, unawareness, and the ignorance that makes an action violent. Without violent thought there can be no violent actions. Non violence is to be observed in action, speech, and thought. One should not be violent, ask others to do so, or approve of such an activity.

Truth (Satya) : Anger, greed, fear, and jokes are the breeding grounds of untruth. To speak the truth requires moral courage. Only those who have conquered greed, fear, anger, jealousy, ego, and frivolity can speak the truth. Jainism insists that one should not only refrain from falsehood, but should always speak the truth, which should be wholesome and pleasant. One should remain silent if the truth causes pain, hurt, anger, or death of any living being. Truth is to be observed in speech, mind, and deed. One should not utter an untruth, ask others to do so, or approve of such activities.

Non-stealing (Achaurya or Asteya) : Stealing consists of taking another's property without his consent, or by unjust or immoral methods. Further, one should not take anything which does not belong to him. It does not entitle one to take away a thing, which may be lying, unattended or unclaimed.

One should observe this vow very strictly, and should not touch even a worthless thing, which does not belong to him. When accepting alms, help, or aid one should not take more then what is minimum needed. To take more than one's need is also considered theft in Jainism. The vow of non stealing insists that one should be totally honest in action, thought, and speech. One should not steal, ask others to do so, or approve of such activities.

Celibacy / Chastity (Brahmacharya) : Total abstinence from sensual pleasure and the pleasure of all five senses are called celibacy. Sensual pleasure is an infatuating force, which sets aside all virtues and reason at the time of indulgence. This vow of controlling sensuality is very difficult to observe in its subtle form. One may refrain from physical indulgence but may still think of the pleasures of sensualism, which is prohibited in Jainism. Monks are required to observe this vow strictly and completely. They should not enjoy sensual pleasures and pleasure of all five senses, ask others to do the same, nor approve of it. There are several rules laid down for observing this vow for householders. They should not have any physical relationship other than own spouse. The relationship with your own spouse should be of limited nature.

Non-attachment / Non-possession (Aparigraha) : Jainism believes that the more worldly wealth a person possesses, the more he is likely to commit sin to acquire and maintain the possession, and in a long run he may be unhappy. The worldly wealth creates attachments, which will continuously result in greed, jealousy, selfishness, ego, hatred, violence, etc. Lord Mahavir has said that wants and desires have no end, and only the sky is the limit for them. An attachment to worldly

objects results in the bondage to the cycle of birth and death. Therefore, one who desires of spiritual liberation should withdraw from all attachments to pleasing objects of all the five senses. Monks observe this vow by giving up attachments to all things such as:

Material things:- Wealth, property, grains, house, books, clothes, etc.. Relationships:- Father, mother, spouse, children, friends, enemies, other monks, disciples etc. Pleasure of Five Senses: The five senses are touch, taste, smell, sight, and hearing. Feelings:- Pleasure and painful feelings towards any objects. They have the equanimity towards music and noise, good and bad smells, soft and hard objects for touch, beautiful and dirty sights, etc. They do not eat food for taste but for survival with the intention to continue to progress spiritually and ultimately to attain liberation. Non possession and non attachment are to be observed in speech, mind, and deed. One should not possess, ask others to do so, or approve of such activities. Jainism has lay down and described in much detail these five great vows for the path of liberation. These are to be observed strictly and entirely by the monks and nuns. Partial observance is laid down for the householders with additional seven vows.

TWELVE LIMITED VOWS OF HOUSE-HOLDERS : Monks are very keen about the uplift of their souls and hence they sacrifice all worldly enjoyments, family relationships, and adopt the five great vows (Maha-vratas).For those who want to remain in family life and for whom complete avoidance of five principle sins are difficult, Jaina ethics specifies the following twelve vows to be carried out by the householder. Of this twelve vows, the first five are main vows of limited nature (**Anuvratas**). They are somewhat easier in comparison with

great vows (Maha vratas). The great vows are for the ascetics. The next three vows are known as merit vows (**Guna vratas**), so called because they enhance and purify the effect of the five main vows and raise their value manifold. It also governs the external conduct of an individual. The last four are called disciplinary vows (**Shikhsa vratas**). They are intended to encourage the person in the performance of their religious duties. They reflect the purity of one's heart. They govern one's internal life and are expressed in a life that is marked by charity. They are preparatory to the discipline of an ascetic's life. Three merit vows (Gunavrats) and four disciplinary vows (Shikhsa vratas) together are known as Seven vows of virtuous conduct (Shilas).A person may adopt these vows, according to his individual capacity and circumstances with the intent to adopt ultimately as full or great vows. The layperson should be very careful while observing and following these limited vows. This vows being limited or restricted vows may still leave great scope for the commitment of sins and possession of property. The twelve vows are described as follows:

Five Main Vows of Limited Nature (Anuvratas) :

1. Ahimsa Anuvrat - Non violence Limited Vow
2. Satya Anuvrat - Truthfulness Limited Vow
3. Achaurya Anuvrat - Non stealing Limited Vow
4. Bhramacharya Anuvrat - Chastity Limited Vow
5. Aparigraha Anuvrat - Non attachment Limited Vow

Three Merit Vows (Guna vrats):

6. Dik Vrata - Limited area of activity vow

7. Bhoga Upbhoga Vrata - Limited use of consumable and non consumable items
8. Anartha danda Vrata - Avoidance of purposeless sins vow

Four Disciplinary Vows (Siksha vratas):

9. Samayik Vrata - Meditation vow of limited duration
10. Desavakasika Vrata - Activity vow of limiting space
11. Pausadha Vrata - Ascetic's life Vow of limited duration
12. Atithi Samvibhaga Vrata - Limited charity vow

Jainas hold these vows at the center of their lives. These vows can not be fully implemented without the acceptance of a philosophy of non absolutism (Anekantvad) and the theory of relativity (Syadvad). Monks and nuns follow these vows strictly and totally, while the common people follow the vows as far as their life styles will permit.

In the matters of spiritual advancement, as envisioned by Mahavir, both men and women are on an equal footing. The lure of renunciation and liberation attracted women as well. Many women followed Mahavir's path and renounced the world in search of ultimate truth and happiness. Thus, the principles of Jainism, if properly understood in their right perspective and faithfully adhered to, will bring contentment and inner happiness and joy in the present life. This will elevate the soul in future reincarnations to a higher spiritual level, ultimately achieving Perfect Enlightenment, reaching its final destination of Eternal

Bliss, ending all cycles of birth & death. Mahavir attracted people from all walks of life, rich and poor, kings and commoners, men and women, princes and priests, touchable and untouchable. He organized his followers, into a four fold order, namely monk (Sadhu), nun (Sadhvi), layman (Shravak), and laywoman (Shravika). This order is known as Jain Sangh.

Lord Mahavir's sermons were orally compiled in Agam Sutras by his immediate disciples. These Agam Sutras were orally passed on to the future generations. In course of time many of the Agam Sutras have been lost, destroyed, and some are modified. About one thousand years later the Agam Sutras were recorded on Tadpatris (leafy paper that was used in those days to preserve records for future references). Swetambar Jainas have accepted these Sutras as authentic versions of His teachings while Digambar Jainas did not accepted as authentic. At the age of 72 (527 B.C.), Lord Mahavir attained Nirvan and his purified soul left his body and achieved complete liberation. He became a Siddha, a pure consciousness, a liberated soul, living forever in a state of complete bliss. On the night of his nirvan, people celebrated the Festival of Lights (Dipavali) in his honor. This is the last day of Hindu and Jaina calendar year known as Dipavali Day.

Jainism existed before Mahavir, and his teachings were based on those of his predecessors. Thus, unlike Buddha, Mahavir was more of a reformer and propagator of an existing religious order than the founder of a new faith. He followed the well-established creed of his predecessor Tirthankar Parshvanath. However, Mahavir did reorganize the philosophical tenets of Jainism to correspond to his times. A few centuries after Mahavir's nirvana, the Jain religious order (Sangha) grew

more and more complex. There were schisms on some minor points, although they did not affect the original doctrines as preached by Mahavir. Later generations saw the introduction of ritualistic complexities, which almost placed Mahavir and other Tirthankars on the throne of Hindu deities.

Significant points of Teachings of Lord Mahavir : Mahavir made religion simple and natural, free from elaborate ritual complexities. His teachings reflected the internal beauty and harmony of the soul. Mahavir taught the idea of supremacy of human life and stressed the importance of the positive attitude of life.

Mahavir's message of nonviolence (Ahimsa), truth (Satya), non stealing (Achaurya), celibacy (Brahma charya), and non possession (Aparigraha) is full of universal compassion. Mahavir said that, "A living body is not merely an integration of limbs and flesh but it is the abode of the soul which potentially has perfect perception (Anant darshana), perfect knowledge (Anant jnana), perfect power (Anant virya), and perfect bliss (Anant sukha). Mahavir's message reflects freedom and spiritual joy of the living being. Mahavir emphasized that all living beings, irrespective of their size, shape, and form how spiritually developed or undeveloped, are equal and we should love and respect them. This way he preached the gospel of universal love. Mahavir rejected the concept of God as a creator, a protector, and a destroyer of the universe. He also denounced the worshiping of gods and goddesses as a means of material gains and personal benefits.

If we go deep into Jaina religion, philosophy, ethics, metaphysics and epistemology, we find Jainism as a complete school of all the aspects of life .This religion is very practical

from the empirical point of view , but at the same , this religion is very spiritual also from the transcendental point of view . We find it quite ethical when Jainism speaks of five vows of monks and twelve vows of house-holders. The Jaina theory of karma is also unique, when Jainism tells about eight kinds of karma and their effects for lives. The greatest contribution of Jainism is the Anekantvad and Syadvad, which gives place to every individual for his independent thinking and action . Jainism opens the door of liberation for every being by declaring that every soul is in bondage because of its own actions and can get liberation by its own actions , so good moral actions are the most essential part of a good human being. That is how the scene of the whole world can be changed to the real “Ramarajya” , based on real values.

Professor, Department of Philosophy & Religion, BHU.

Black page 174

CONTRIBUTORS

Deobrat Chaube
Professor, Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: deobratchaube@yahoo.com

Sachchidanand Mishra
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: sachchitmishra@gmai.com,
mishrasachchidanand@yahoo.com

Shriprakash Pandey
Professor & Head, Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: sppandey_1760@rediffmail.com

Arvind Kumar Rai
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email : arvindkr@bhu.ac.in

N.K. Devaraja
Former Professor & Head, Department of Philosophy
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.

Sanjay Kumar Shukla
Associate Professor,
Department of Philosophy
Ewing Christian College, Allahabad (U.P.) - India.
sanjayshukla_ecc16@yahoo.com

C.D. Sebastian,
Department of Humanities and Social Sciences
IIT Bombay-Mumbai-400076
Email: scbastian@iitb.ac.in

R.C. Pradhan
Retired Professor, Department of Philosophy
University of Hyderabad, Hyderabad-500046.
Email: pradhanrameshchandra@yahoo.com

Debashis Guha
Professor, Department of Philosophy
University of Allahabad, Allahabad. U.P.
Email : dgalduniv@gmail.com

Mukul Raj Mehta
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: mukul_maha@rediffmail.com

NOTE TO AUTHORS

The Editor and Editorial Board of *Ânvîkṣikî* welcome specialized papers/articles in Indian philosophy and articles that exhibit the relevance and importance of philosophy in general and Indian Philosophy in particular in the present scientific era and global world. The article may exhibit the distinctive characteristics of the various Indian philosophical traditions. They especially welcome those original contributions that expose the puzzling issues of the classical and contemporary Indian philosophy. They welcome also those articles which illuminate in a comparative manner the importance of Indian Philosophical concepts, epistemological issues, roots of religious ideas and as well as socio-economic philosophical problems.

The papers/articles submitted will be sent/mailed to the referees for their comment and the author will be communicated the decision only after the referees' report.

The journal is a bi-lingual one. All articles and papers either in English or in Hindi are printed. The authors are requested to use diacritical marks in a consistent way wherever they find a necessity. The system of transliteration of Sanskrit/Pali/Prakrit terms and names should be consistent within each article and should conform to generally accepted practice. Manuscripts should be prepared for electronic copyediting and typesetting. Authors are responsible for the accuracy of all quotations and for supplying complete references, including block quotations, endnotes, and reference lists.

Authors are requested to use the following formatting techniques: the title using 14 pt type;

double-space using 12 pt type;

Use double quotes to mark concepts, terms, titles of articles, and direct quotations;

Use single quotes to mark quotations within quotations and scare quotes; direct quotation of more than 40 words should be set off in separate, indented paragraphs; italicize book and journal titles and foreign words;

Align left: avoid the use of justification commands. Prepare the article in Unicode font while submitting an article in Hindi.

Two non-returnable copies of all contributions should be sent to the Editor, *Ânvîkṣikî*, Department of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, Varanasi-221005, UP, INDIA.

Book reviews and books for review should also be sent to the Editor, *Ânvîkṣikî*, Department of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, Varanasi-221005, UP, INDIA

Alternatively, the articles/book reviews should be mailed to philosophydeptbhu@gmail.com as an email attachment in PDF format as well as in the Microsoft Document format. While sending an article as an email attachment the author is required to attach the fonts too.

The authors are requested to submit a declaration in this format while submitting an article.

The Declaration of the author for publication of articles in the *Ânvîkṣikî* journal—

1. I, the author of the research paper entitled " …" declare that it:

   a) does not contain any libelous or unlawful statements;

   b) does not infringe on any copyright, privacy rights or any other proprietary rights;

c) has not been previously published elsewhere in its entirety. In the event, the Work contains material that has been previously published, such excerpted material has been attributed to the proper author(s) and identifies where it has been previously published; and

d) is my sole, original work, or in the case the Work is prepared jointly by more than one author, I warrant that I have been authorized by all co-authors to submit the work on their behalf.

2. I agree to hold harmless, indemnify and defend the journal publishers, its employees, contractors and agents from any and all losses, damages, expenses, claims, suits and demands of whatever nature (including legal fees and expenses on a solicitor client basis) resulting from any breach of the above warranties.

3. I authorize the Editors of the journals to edit and modify the manuscript. I also give my consent to the Editor of *"Ânvîkṣıkî"* to own the copyright of my research paper.

Author's Name and signature—

Date and Place—

Black page 180